24

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थ मस्तमौला संन्यासी थे। क्या ज्ञान, क्या भक्ति, क्या वैराग्य—तीनों रस में दीवाने थे। इतना ही कहना काफी होगा कि उन जैसा वे ही थे।

1. जन्म

स्वामी रामतीर्थ का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरांवाला जिले के मुरारिवाला ग्राम में सन् 1873 ई० में एक उच्च कुलीन माने जाने वाले ब्राह्मण घराने में हुआ। परिवार बड़ा गरीब था। रामतीर्थ के जन्म के बाद कुछ ही दिनों में उनकी माता का देहांत हो गया। फिर उनके बड़े भाई गोस्वामी गुरुदास तथा उनकी वृद्धा चाची ने उनका पालन-पोषण किया।

2. शिक्षण काल

उनका बचपन का नाम 'तीर्थ राम' था, संन्यास लेने पर उनका नाम रामतीर्थ पड़ा। कहा जाता है वे बचपन से ही एकांतप्रेमी और उदासवृत्ति के थे। पढ़ते समय वे अपने गुरु से मन्दिर में भजन-पूजन करने के लिए समय मांग लेते थे। वे अपने एक मुसलिम शिक्षक का हार्दिक आदर करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने पिता से कहा—मौलवी साहेब को घर की दुधार भैंस दक्षिणा में दे दी जाये; क्योंकि उन्होंने हमें दूध से भी अधिक मीठी विद्या दी है।

तीर्थराम ने जब गांव में अपनी शिक्षा समाप्त की तब मैट्रिक की शिक्षा पाने के लिए जिले पर अर्थात गुजरांवाला गये और वहां के हाईस्कूल में उनका नाम लिखाया गया। गुजरांवाला में ही एक धन्ना भगत नाम का व्यक्ति था जो कुछ योग-युक्ति जानता था। उससे तीर्थराम ने आध्यात्मिक प्रेरणा पाई। तीर्थराम को एक प्रतिभासंपन्न कुशाग्र बुद्धि का बालक देखकर और साथ-साथ गरीब समझकर धन्ना भगत ने उनकी पढ़ाई में रुपयों से भी सहयोग किया। तीर्थराम धन्ना भगत को अपना आध्यात्मिक गुरु तथा ईश्वर स्वरूप मानते थे।

तीर्थराम मार्च सन् 1888 ई० में हाईस्कूल पास करके उसी वर्ष इंटरमीडिएट में पढ़ने के लिए गुजरांवाला से लाहौर चले गये और वे वहां के

मिशन कालेज में 18 मई, 1888 ई० में भरती हो गये। एक रुपया मासिक पर उन्होंने छोटा मकान लिया और उसमें रहकर कालेज में पढ़ने लगे।

पढ़ाई के क्रम में उन्होंने धन्ना भगत को पचासों पत्र लिखें होंगे। उनकी उनमें बहुत श्रद्धा थी। तीर्थराम का हृदय बड़ा कोमल, भावुक और पवित्र था। उनके पत्रों से इसकी झलक मिलती है। वे धन्ना भगत को लाहौर के मिशन कालेज से पत्र लिखते हैं—

''5 नवम्बर, 1888 ई०, मैं अपने आप को, अपना सर्वस्व आपके चरणों में भेंट करता हूं। मेरे प्रभू! सम्भव है, मुझे आपकी दया से वजीफा मिल जाये।''

बालक तीर्थराम को विद्याध्ययन काल में एक-एक पैसे के लिए कठिनाई होती थी। परन्तु कभी उन्हें कुछ वजीफा मिला, कभी ट्यूशन पढ़ाने को मिला और कभी दानदाता मिले। निश्चित ही यदि आपका उद्देश्य सही है और उस तक पहुंचने के लिए आप कृतसंकल्प हैं, तो आपको हर कठिनाई पर सहायक अवश्य मिलेंगे।

तीर्थराम की गरीबी देखकर एक झण्डूमल नामक सज्जन ने उन्हें बहुत दिनों तक नियमित भोजन दिया, समय से कपड़े भी दिये। लाला ज्वालाप्रसाद ने भी उनकी सहायता की। कभी तो प्रिंसिपल ने सहयोग किया। वे कभी-कभी इसलिए अधपेट, भूखे तथा फटे वस्त्रों में रहते थे कि रात को पढ़ने के लिए दीपक के लिए तेल जुटा लें।

एक बार उनको इतनी तंगी थी कि वे दो पैसे में दुकान पर सुबह का भोजन तथा एक पैसा में शाम का भोजन करते थे। कुछ दिनों के बाद दुकानदार ने यह कहकर युवक तीर्थराम को भोजन देने से सदा के लिए इंकार कर दिया कि तुम थोड़ी रोटी खरीदते हो और दाल मुफ्त में लेते हो। फिर तीर्थराम एक ही समय खाकर रहने लगे।

डिग्री लेने के लिए उन्हें पहनने को गाउन नहीं था। इतने रुपये नहीं थे कि उसे बनवा सके। इतना ही नहीं, एक दूसरे का गाउन जिसकी मरम्मत के लिए पांच रुपये चाहिए थे, नहीं थे। उन्होंने धन्ना भगत को पत्र में लिखा—''पांच रुपये उसकी मरम्मत में लगेंगे क्या किया जाये?''

युवक तीर्थराम को 11 अप्रैल, 1894 ई० में महाकवि दाग की निम्न कविता पढ़कर बड़ी प्रेरणा मिली—

खाली हाथ वाले श्रेष्ठ होते हैं धनवानों से।
सुरा के खाली प्याले को भरने के लिए
सुरापात्र को ही फिर झुकना पड़ता है।

युवक तीर्थराम को ऐसे भी समय आते हैं जब पत्र लिखने को एक पैसा पोस्टकार्ड के लिए नहीं रहता था, थोड़ा मार्ग-व्यय नहीं रहता। उनके पत्र इस

प्रकार हैं जो धन्ना भगत को लिखे गये हैं—

"6 दिसम्बर, 1894 ई० : "पत्र में देरी का एकमात्र कारण था कि मेरा हाथ बिलकुल खाली था। मैंने एक पैसा किसी से उधार भी नहीं लिया, यह सोचकर कि मुझे समय पर वजीफा मिल जायेगा। पर जब वह वजीफा अभी तक नहीं मिला तब मैंने इस कार्ड के लिए एक पैसा उधार लिया है।"

"25 जून, 1895 ई० : "आप यहां आकर मुझे क्यों नहीं देख जाते। मेरा आना कठिन हो रहा है। एक बड़ा कारण तो यह है कि मेरे पास पैसा नहीं है। यद्यपि वहां जाने में सिर्फ दो रुपये लगते हैं, फिर भी इन दिनों दो रुपये जुटाना मेरे लिए कठिन है।"

3. अध्यापन काल

वे 1895 ई० के अन्त तक लाहौर के अपने ही मिशन कालेज में प्रोफेसर का पद पा गये थे और वे वहां पढ़ाने लगे। वे पांच-छह वर्षों तक प्रोफेसर के पद पर रहकर कुशलतापूर्वक अध्यापन करते रहे, परन्तु वे उस बीच में भक्ति-वैराग्य के रस में काफी सराबोर रहते थे। वे एकांत में अनेक बार कृष्ण-विरह में व्याकुल होकर फूट-फूट कर रोते थे। बादलों में कृष्ण की कल्पना करके पागलों की तरह कृष्ण को पुकारते थे। कहीं नदी की धारा की ओर उन्हें निहारते थे। उनका भावोन्माद चरमसीमा पर पहुंचा था।

एक बार द्वारका मठ के शंकराचार्य स्वामी माधवतीर्थ लाहौर पधारे थे। उनके जीवन, विद्वता एवं वेदांतज्ञान का प्रभाव युवक तीर्थराम पर पड़ा और उनके मन में साधु होने की आग भड़की। दूसरी मुख्य बात है एक बार इसी बीच युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जबकि वे अमेरिका से लौटे थे लाहौर में पधारे। उनके व्यक्तित्व, कर्तृत्व, वेदांतज्ञान एवं साधुता का गहरा प्रभाव युवक तीर्थराम पर पड़ा।

वे उर्दू, फारसी और इंगलिश के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने 1900 ई० में 'अलिफ' नाम का एक पत्र निकाला। उन्होंने उसके लिए एक छोटा-सा प्रेस स्थापित किया, जिसका नाम 'आनन्द प्रेस' रखा, परन्तु उन्होंने 1900 ई० की जुलाई में ही लाहौर को सदैव के लिए त्याग कर हिमालय का क्षेत्र पकड़ लिया।

4. गृहत्याग और साधना

युवक तीर्थराम जब लाहौर छोड़कर सदैव के लिए हिमालय जाने लगे तब उनके प्रशंसकों की एक बड़ी भीड़ स्टेशन पर एकत्र हुई। तीर्थराम ने लाहौर की भीड़ के सामने स्वरचित गीत गाया—

"अलविदा, मेरी रियाजी! अलविदा!
"अलविदा, ऐ प्यारी रावी! अलविदा!

"अलविदा, ऐ दोस्तो-दुश्मन! अलविदा!
"अलविदा, ऐ दिल! खुदा ले अलविदा!
"अलविदा, ऐ दिल! खुदा ले अलविदा!
"अलविदा, राम! अलविदा ऐ अलविदा!

गृहत्याग के बाद पिता के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने ऋषिकेश से लिखा—

"आपने अपने पत्र में मुझे घर लौटने का उत्साह दिलाया है। आपका पत्र गंगा की बहती धारा में विसर्जन कर दिया गया। आश्चर्य, आप भी मुझसे यह पूछते हैं कि क्या मुझे अपने कर्तव्यों का पालन न करने के कारण कोई दुख नहीं होता?

दुख किस बात का?

"इन चीजों की उत्पत्ति कहां से हुई? कौन जाने! इन चीजों का अंत कहा होगा? कौन जाने!"

"जो कुछ थोड़ा-सा पता है वह केवल बीच ही बीच में—वर्तमान में। और जब सब कुछ अज्ञात-ही-अज्ञात—तब दुख काहे का?"

और लोग क्या कहेंगे?

उत्तर में यह उर्दू शेर काफी है—

'अपनी पगड़ी से अपना ही कफन
बना मैं आया कूचे यार में—
ताना लगा ले जिसका जी चाहे!
मुझे ऐसे-वैसों की परवाह नहीं।'

"फिर आपने आज्ञा-पालन का आदेश दिया है। मैं आपकी आज्ञा का ही पालन कर रहा हूं। अपने शरीर के पंचनद में से द्रुत गति के साथ भगवान के मन्दिर की ओर बढ़ रहा हूं। मैं तो सत्य के साथ घुलमिल जाना चाहता हूं।

"आधी रात होने वाली है। पास में न कोई आदमी और न भूत-प्रेत, भीतर निजानन्द की उफान की धूमधाम है और बाहर माता जाह्नवी के प्रवाह का संगीत। मेरे भीतर शांति, शांति, शांति का महासागर है और मेरे बाहर कल्याण का साम्राज्य। यह मेरे मिलन की रात्रि है, इसे अंधेरी कौन कहता है—यह तो मिलन की घड़ी ने गोपनीय संसार के मुख पर काला परदा डाल रखा है।"

"मेरा मतलब है कि मिलन रात्रि में भीतर और बाहर—दोनों लोक घुलकर बह गये हैं। नेत्रों में अमृत का नद बह रहा है। ऐसे समय में मुझे सांसारिक सुखों की याद दिलाना! राम! राम!"

''मेरे घरवालों से कह दीजिये कि यदि मुझसे मिलने की इच्छा है तो केन्द्र पर आकर मिलें, जहां सब मिलते हैं, न कि परिधि पर, जहां कोई नहीं मिलता।''

''क्या किसी ने कभी मृतक के पास भी लौटने का सन्देश भेजा है? जिन्हें मृतकों के दर्शनों की इच्छा हो वे स्वयं मर जावें। मैं मर चुका! मैं शरीर में रहते हुए ही मर गया। अब मेरे घर वाले मुझे वापस बुलाने की चेष्टा न करें। हां, यदि वे भी मेरे जैसे बन जावें तब तो मिलन कुछ भी कठिन नहीं।''

(स्वामी राम जीवनकथा, पृष्ठ 103-105)

मुमुक्षु तीर्थराम एक वर्ष पर्वतों में अज्ञातवास करते रहे। उसके बाद वे संन्यासी का भगवा वस्त्र पहन लिए और वे गंगोत्री, यमुनोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ का लम्बा स्वच्छन्द भ्रमण करने लगे। कुछ दिनों के बाद वे पर्वतों से उतरकर मथुरा आये और स्वामी शिवगणाचार्य द्वारा गठित सर्वधर्म-सम्मेलन के दो अधिवेशनों में सभापतित्व किये। साधुवेष पहनने के बाद उन्होंने अपना नाम तीर्थराम से उलटकर रामतीर्थ रख लिया। यह पता नहीं चलता कि उन्होंने किसी गुरु से वेष लिया था। मालूम होता है वे स्वयं भगवा वस्त्र धारण कर लिये थे या कौन जाने किसी दूसरे संन्यासी से ही ग्रहण किये हों।

वे टिहरी गढ़वाल के आस-पास रह रहे थे। उस समय टिहरी नरेश स्वामीजी का बड़ा भक्त हो गया। सन् 1902 ई० की बात है, राजा ने स्वामी जी को एक समाचार सुनाया कि जैसे सन् 1893 ई० में शिकागो (अमेरिका) में एक बृहत् सर्वधर्म सम्मेलन हुआ था उसी प्रकार टोकियो (जापान) में एक सम्मेलन होने वाला है और उसमें आराम से पहुंचा जा सकता है।

5. जापान तथा अमेरिका में

स्वामीजी जहाज से जापान पहुंचे। रास्ते में हिन्दू व्यापारियों ने उनका आदर किया। स्वामी रामतीर्थ के साथ उनके शिष्य स्वामी नारायण भी थे। दोनों टोकियो के 'इंडो-जापानी' क्लब में गये जिसके समसामयिक मंत्री एक भारतीय सरदार श्री पूरन सिंह थे। पीछे इन्होंने इंगलिश में The Story of Swami Ram (दी स्टोरी आफ स्वामी राम) नामक पुस्तक लिखी।

स्वामी रामतीर्थ जापान तो गये, परन्तु वहां किसी कारण-वश सर्वधर्म सम्मेलन हो नहीं सका।

एक बार स्वामीजी केनकोवा पार्क (जापानी बाजार) में घूम रहे थे, तो उनको सामान बेचने वाली अनेक लड़कियों ने घेर लिया और सरदार पूरन सिंह से हंसकर कहने लगीं ''यह साधु हम लोगों से भी सुन्दर है। हम सब इनसे शादी करने के लिए तैयार हैं।'' वे सब स्वामी जी के वस्त्रों को छूतीं और हंसतीं। स्वामीजी जापानी भाषा समझ नहीं पाते। अत: उन्होंने सरदार पूरन सिंह से पूछा—''ये क्या कह रही हैं?'' सरदार जी ने बातें बनाकर कह दिया, ''ये

वेदान्त पर आपका भाषण सुनना चाहती हैं।''

स्वामी रामतीर्थ के जापान में कई भाषण हुए और वहां का समाज उनके भाषणों से काफी प्रभावित हुआ।

टोकियो में स्वामी जी ने एक भाषण ''सफलता का रहस्य'' पर दिया था, जिसमें उन्होंने सात सिद्धान्त बतलाये थे—

1. काम करना, कार्यरत रहना
2. आत्म त्याग, स्वार्थ त्याग,
3. आत्म विस्मृति, अहंकार शून्यता,
4. सार्वभौमिक प्रेम,
5. प्रसन्नता, सब समय खुशहाल रहना,
6. निर्भीकता,
7. आत्म निर्भरता एवं स्वावलम्बन।

इस पर उन्होंने काफी विस्तार से बोला था।

वे जापान से अमेरिका सन् 1902 ई० में गये और वहां बुफैलो, लिलीडेल, शिकागो, बोस्टन, ग्रोनेकर, मेन, न्यूयार्क, फ्लोरिडा आदि स्थानों में सैकड़ों व्याख्यान दिये; एकान्त स्थलों में रहकर सैकड़ों पुस्तकें पढ़ीं, सैकड़ों कविताएं तथा अनेक लेख लिखे। वे अपने त्याग, सरलता, ज्ञान एवं वैराग्य से अनेक को आकर्षित करके 8 दिसम्बर, 1904 ई० को भारत लौट आये।

स्वामी जी अमेरिका के एक नगर में रह रहे थे। एक दिन वहां की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री स्वामी जी से मिलने आयी। वह मोती-हीरों से लदी थी और उसने शरीर तथा वस्त्रों में इतना इत्र लगा रखा था कि वह पूरे वातावरण को सुगन्धी से भर रहा था। उसकी मुस्कान भी माहौल में कुसुम की कलियां बिखेर रही थीं। वह आकर स्वामी जी के पास बैठ गयी और लगी अपना दुखड़ा रोने। वह कहने लगी ''स्वामीजी! मेरे वस्त्रालंकारों के कारण आप मुझे सुखी न समझें और यह मेरी मुस्कान तो यन्त्रवत स्वभाव बन गया है। ये सब मेरी आत्मा को निरन्तर कचोटते हैं। मैं एक क्षण भी सुखी नहीं हूं।'' मानो वह भौतिकवाद के खोखलेपन की नंगी मूर्ति थी।

दूसरी एक स्त्री आयी जिसका बच्चा मर गया था। वह बहुत पीड़ित और संतप्त थी। स्वामीजी ने सबको अपने ज्ञानामृत से सन्तोष दिया।

6. भारत पुनरागमन

स्वामीजी दिसम्बर 1904 में भारत लौट आये और बम्बई से मथुरा आ गये। वे उत्तरी भारत तथा उत्तराखण्ड में कुछ समय व्यतीत करते रहे। वे हरिद्वार के पास थे। एक दिन उनकी पत्नी, एक छोटा बच्चा तथा विमाता—ये तीन पंजाब से स्वामी जी के दर्शनार्थ आये।

सरदार पूरन सिंह जी उस समय स्वामी जी की सेवा में थे। स्वामी जी कुछ बीमार थे। पूरन जी ने कहा ''घर वाले पंजाब से आपके दर्शनार्थ आये हैं।'' स्वामी जी ने कहा ''उन्हें ले जाकर स्टेशन पर ट्रेन में बैठा दो, वे मुझसे नहीं मिल सकते।''

पूरन जी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे; परन्तु उनको स्वामी जी पर प्रेम का क्रोध आया और उन्होंने कहा ''अच्छा, नमस्कार! मैं भी जाता हूं। घर वाले आपसे न कुछ मांगने आये हैं और न तो आपको घर लौटाने। केवल दर्शनार्थ आये हैं फिर भी आप उन पर कठोर हो रहे हैं।'' पूरन जी जब फाटक खोलकर बाहर जाने लगे, स्वामी जी खिलखिलाकर हंस पड़े और कहे ''अच्छा पूरन! उन लोगों को बुला लो।'' स्वामी जी घरवालों से मिले, फिर उन्हें विदा किये। वस्तुत: स्वामी जी शास्त्रोक्त संन्यासधर्म निभा रहे थे जिसमें यह मान्यता है कि ''साधु को घर वालों से नहीं मिलना चाहिए।'' मोह या विशेष सम्बन्ध तो घर वालों से अवश्य नहीं करना चाहिए; परन्तु शील का निर्वाह न करना तो साधुता का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

अमेरिका से लौटने के बाद स्वामी जी के दिल में राष्ट्रीय भावना प्रदीप्त हो गयी थी। इसीलिए अंग्रेज गवर्नमेण्ट की खुफिया भी उनके पीछे यत्र-तत्र लग जाया करती थी। वे गलत वेषधारियों से काफी ऊब गये थे तथा गेरुवा वस्त्र तक उनको बुरा लगने लगा था।

स्वामी जी टिहरी (गढ़वाल) में आकर टिहरी नरेश के अतिथि बनकर उनके सिमलसू वाले चन्द्रभवन में निवास करने लगे। स्वामीजी उस समय कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। वे उस समय भी सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखा करते थे और वैराग्य-ज्ञान की मस्ती में रहा करते थे। वे शायद कार्तिक दीपावली के दिन एक लेख लिखकर पूर्ण किये और गंगा में स्नान करने के लिए उतरे। वे छाती भर पानी में जाकर डुबकी लगाये। अनुमान किया जाता है कि उनके पैर फिसल गये और वे अपने शरीर को सम्हाल न सके तथा नीचे चले गये। उन्होंने नीचे से ऊपर आने की चेष्टा की और ऊपर आ गये; परन्तु गंगा की तेजधारा उनको बहा ले गयी और इस प्रकार इस महान संत का केवल तैंतीस (33) वर्ष की आयु में 1906 ई० में शरीरांत हो गया।

स्वामी जी का पार्थिव शरीर तो नहीं रहा; परन्तु यश:शरीर, उनका त्याग-तपोमय जीवन-दर्शन, उनकी दुर्लभ कृतियां आज भी उपस्थित हैं जो लाखों-लाखों लोगों के प्रेरणास्रोत सदा के लिए बने रहेंगे।

25

रमण महर्षि

जो वैराग्य के मूर्तिमंत स्वरूप थे, किसी की प्रतिक्रिया न करने वाले और तप:पूत थे, जिनका प्राय: मौन ही जिज्ञासुओं का उत्तर हुआ करता था, जिसने आत्मविश्वास और आत्मशुद्धि को साधना समझा, जिसने जीवनभर 'मैं कौन हूं' को समझने का उपदेश दिया और जिसने 'मैं' (शुद्ध चेतन) में ही स्थित होकर उसी में स्थित होने की जीवनपर्यन्त राय दी, उस महान विरक्त संत महर्षि रमण का यहां सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

1. जन्म और जन्मस्थान

रमण महर्षि का जन्म 29-30 दिसम्बर, 1879 ई० की आधी रात को तिरुचुली में ब्राह्मण परिवार में हुआ। यह तमिलनाडु प्रांत में पड़ता है। पिता का नाम सुंदरम अय्यर तथा माता का नाम अलगम्माल था। रमण महर्षि का प्रथम नाम वेंकटरमण था। उनके बड़े भाई का नाम नागस्वामी और उनसे छोटे भाई का नाम नागसुंदरम और छोटी बहिन का नाम अलामेलु था। वेंकटरमण के पिता सुंदरम अय्यर तिरुचुली में वकालत करते थे। वेंकटरमण ने प्राथमिक शिक्षा तिरुचुली में पायी। इसके बाद वे डिंडिगल में एक वर्ष मिडिल स्कूल में पढ़ते रहे।

1892 ई० में वेंकटरमण के पिता की अचानक मृत्यु हो गयी। अतएव उनके चाचा सुब्ब अय्यर उनको तथा बड़े भाई नागस्वामी को मदुरै ले गये, और छोटे दो बच्चे माता के साथ अपने ताऊ नेल्लैयप्प अय्यर के साथ मानमदुरै में रहने लगे।

कुछ दिनों में वेंकटरमण ने मदुरै के अमेरिकी मिशन हाईस्कूल में प्रवेश किया। उन्हें पढ़ने-लिखने में अधिक दिलचस्पी नहीं थी। वे स्वस्थ शरीर के थे। उन्हें खेलकूद में ज्यादा रुचि थी।

मदुरै से कुछ दूरी पर अरुणाचल नाम का एक पर्वत है, जिसकी चर्चा सुनकर वेंकटरमण बचपन से ही प्रभावित हो जाते थे। उन्होंने नवम्बर 1895 ई० में अपने एक वयोवृद्ध पुरुष से सुना कि वे अभी-अभी अरुणाचल घूमकर आये हैं। उन्हें यह भी पता लगा कि अरुणाचल तो तिरुवण्णामलाई ही है जो मदुरै से बहुत दूर नहीं है। इसी बीच वेंकटरमण को पेरियपुराणम् की एक प्रति

मिली जिसमें तिरसठ संतों की कथाएं थीं। उसे पढ़कर वेंकटरमण गद्‌गद हो गये।

2. मृत्यु का आभास

जिस घटना से वेंकटरमण के जीवन में अभूतपूर्व मोड़ हुआ वह यह है। वे मदुरै में अपने चाचा के घर के पहले तल्ले पर बैठे थे। समय 16 जुलाई, 1896 ई० का है। वे पूर्ण स्वस्थ थे। उन्हें एकाएक ऐसा आभास हुआ कि मैं अब मर रहा हूं। उन्होंने मृत्यु के अभिनय में हाथ-पैर अकड़ लिए, मुंह भींच लिया, सांस रोक ली और सोचना आरंभ किया कि अब तो शरीर मर गया है। लोग इसे श्मशान ले जाकर जला देंगे। क्या मैं शरीर हूं। शरीर तो मर गया है, परन्तु मेरा अस्तित्व बना है। मैं भीतर अपने अस्तित्व का अनुभव करता हूं। 'मैं हूं' यह भीतर-भीतर अनुभव हो रहा है। मैं कौन हूं, यह जीवन का महत्त्वपूर्ण विषय है। उनकी यह अवस्था आधा घंटा रही।

इस घटना के बाद वेंकटरमण को बारंबार आत्मलीनता के दौरे जैसे पड़ने लगे। पढ़ाई-लिखाई ठंडी पड़ गयी। उनमें सौम्यता और विनम्रता बढ़ने लगी। वे मंदिर अधिक जाने लगे। वे शिव मंदिर में जाकर शिव से यही आशीर्वाद चाहते थे कि मेरी आप में भक्ति बढ़े। महर्षि रमण ने अपने उपर्युक्त अनुभव को अपने भक्तों में अनेक बार व्यक्त किया था।

वेंकटरमण इंगलिश का ग्रामर कापी में उतार रहे थे। उनका मन उसमें लग नहीं रहा था, अतएव कापी, किताब एक तरफ सरकाकर और आंखें बंदकर ध्यान की मुद्रा में बैठ गये। बड़े भाई नागस्वामी दूर से बैठे वेंकटरमण की दशा देख रहे थे। उन्होंने झिड़कते हुए कहा "परिवार के बीच रहते हो, पढ़ाई का ढोंग करते हो, और बैठे हो जैसे कोई योगी हो।"[1] उक्त बात सुनकर वेंकटरमण को मानो संकेत मिल गया कि तुम योगी हो। तुम यहां से अरुणाचल चलो। अतएव उन्होंने बड़े भाई से कहा कि आज मुझे स्कूल जाना है। वहां आज विशेष कक्षा लगेगी। बड़े भाई ने कहा कि नीचे पेटी से पांच रुपये ले लेना और कालेज में मेरे नाम से फीस जमा कर देना।

वेंकटरमण ने चाची से चाबी मांगी और पेटी खोलकर उसमें से तीन रुपये निकाले। उन्हें कालेज में बड़े भाई की फीस तो जमा नहीं करनी थी, उन्हें तो अरुणाचल जाना था। वे समझते थे कि वहां तक पहुंचने के लिए तीन रुपये पर्याप्त हैं। उन्होंने पांच में से तीन रुपये लिए और दो वापस पेटी में रख दिये तथा उसके साथ तमिल भाषा में एक पत्र लिखकर रख दिया जिसका आशय

---

1. **रमण महर्षि, पृष्ठ 12। लेखक-कृष्ण स्वामी नाथन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली।**

यह था—''मैं अपने पिता की खोज में जा रहा हूं और उन्हीं के आदेश पर जा रहा हूं। इस कार्य पर कोई दुखी न हो और इसको ढूंढ़ने के लिए कुछ भी खर्च न किया जाये। आपकी कालेज की फीस नहीं दी गयी। दो रुपये इसके साथ रखे हैं।''[1] पत्र में वेंकटरमण ने अपने आपको अन्य पुरुष के रूप में 'इसको' लिखा था और पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया था।

रमण महर्षि ने उक्त बातों का स्मरण कर अपने भक्तों के बीच 1949 ई० में खेद प्रकट किया था कि मेरी चाची बड़ी सीधी-सादी थीं, मुझ पर विश्वास करती थीं, मैं कभी झूठ नहीं बोलता था, परंतु गृहत्याग में अड़चन न पड़े इसलिए झूठ बोलकर निकला कि स्कूल जा रहा हूं। मुझे सदा के लिए गृहत्याग के समय चाची से सच्चाई छिपानी पड़ी।

3. गृहत्याग

वेंकटरमण अपने स्टेशन पर गये। उन्होंने दो रुपये तेरह आने में थिडिवनम का टिकट खरीदा। वे समझते थे कि इसी स्टेशन के पास तिरुवण्णामलाई होगा। वे ट्रेन में बैठ गये। पीछे एक मौलवी से पता लगा कि एक नयी रेलवे लाइन चालू हो गयी है जिससे विल्लूपुरम से गाड़ी बदलकर तिरुवण्णामलाई सरलता से पहुंचा जा सकता है। इसमें कुल तीन रुपये का टिकट लगता है।

वे मौलवी के निर्देशानुसार विल्लपुरम स्टेशन पर उतर गये। वे बचे हुए पैसे से टिकट खरीदकर माबलपट्टू तक दस मील ट्रेन से गये। आगे पैसे न होने से दस मील पैदल गये। परन्तु उससे वे बहुत थक गये। अत: उन्होंने अपने कान में पहने हुए लौंगें जिनमें लाल नग जड़ी थी, मुतुस्वामी भागवतर नाम के एक व्यक्ति के पास चार रुपये लेकर गिरवी रख दी और टिकट कटाकर ट्रेन में बैठ गये। उन्होंने गिरवी की रसीद को फाड़कर फेंक दिया, क्योंकि उन्हें उसे छुड़ाना नहीं था। मुतुस्वामी भागवतर की पत्नी ने वेंकटरमण को भोजन करा दिया था और मिठाई का पैकेट दे दिया था।

वे पहली सितम्बर, 1896 ई० को सुबह तिरुवण्णामलाई पहुंचे और अरुणाचलेश्वर मंदिर में जाकर देवता के सामने खड़े हो गये। उन्होंने समझा कि मैं अपने पिता के पास आ गया हूं तथा अपने घर पहुंच गया हूं।

4. तप और समाधि

वेंकटरमण मंदिर से बाहर निकलकर सिर के बाल छिलवा दिये और उनके पास जो कुछ था—यज्ञोपवीत, तीन रुपये, मिठाई का पैकेट और शरीर के कपड़े फेंक दिये। उन्होंने अपनी पहनी हुई धोती से केवल एक कौपीन फाड़

---

1. **वही, पृष्ठ 13।**

ली और उसे पहन ली। वे मंदिर में गये। उसमें वे मौन होकर ध्यान में लग गये। वे उसमें कई सप्ताह तक रहे। वे सदैव समाधि में लीन रहते थे। इस अवस्था में उनकी देखभाल शेषाद्रि स्वामी नाम के एक विद्वान साधु ने की।

वेंकटरमण को उन्मादी लड़के परेशान करने लगे, तब वे उस मंदिर के मंडप के नीचे तलघर में जाकर रहने लगे। वहां उन्हें चींटियां, कीड़े, मच्छड़ आदि काटते-खाते थे, परन्तु वे तलघर[1] में पड़े रहते थे।

वेंकटरमण को लोग ब्राह्मण स्वामी कहते थे। जब कुछ भक्तों को पता लगा कि वे तलघर में रहते हैं तब उन्होंने वहां जाकर देखा तो उनके शरीर में घाव हो गये हैं, जिनमें कीड़े रेंगते हैं और पीप बहता है। भक्तों ने उन्हें पास के दूसरे देवालय गोपुरम सुब्रह्मण्यम के मंडप में पहुंचाया। इसके बाद कुतूहलवश उनके दर्शन के लिए भीड़ आने लगी। अतएव भक्त उन्हें भीड़ से बचाने के लिए अनेक स्थानों पर ले जाते रहे। भक्तजन उन्हें भोजन दे जाते थे। वे एक बार भोजन लेकर समाधि में लीन रहते थे।

''वर्षों बाद उन दिनों की याद कर महर्षि ने बताया कि तिरुवण्णामलाई आने के बाद उन्हें पहला स्नान चार महीने के बाद एक भक्त ने जबरदस्ती कराया था, जो उन पर माता का-सा स्नेह रखता था। और एक वर्ष बाद जब वे गुरुमूर्तम में थे, ऐसे ही एक और भक्त ने उन्हें दूसरी बार स्नान कराया था। अठारह महीने तक उनके सिर के बाल नहीं बने।''[2] वर्षों बाद उन्होंने बताया था कि उनके सिर के बाल उलझकर डलिया-सी बन गये थे और उसमें धूल भरी थी और कंकड़ फंसे थे। सिर भारी लगता था। नाखून बड़े-बड़े हो गये थे। लोगों के बहुत जोर डालने पर उन्होंने बाल बनवाया।

भक्त लोग सन् 1897 ई० में ब्राह्मण स्वामी को गुरुमूर्तम मठ में ले गये जो वर्तमान मंदिर से दूर था। यहां का वातावरण शांत था। ब्राह्मण स्वामी की देखभाल में दो साधु रहते थे। जब वे दोनों कहीं बाहर जाते थे तब उन्हें ताले के भीतर बंद कर देते थे। ब्राह्मण स्वामी सदैव समाधि में रहा करते थे। एक भक्त ने जब उनकी धूप-दीप, कपूर, फूल आदि से पूजा करना चाहा तब उन्होंने कोयले से दीवार पर तमिल भाषा में लिख दिया कि भोजन देना काफी है। जब कुछ लोगों ने उनके नाम और स्थान जानने का अधिक प्रयत्न किया तब उन्होंने रोमन लिपि में वेंकटरमण, तिरुवली दो शब्द लिख दिये। इसके बाद लोगों को पता लगा कि यह जंगली-सा दिखता लड़का पढ़ा-लिखा है तथा

---

1. **इस तलघर में 1949 ई० में समसामयिक गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने रमण महर्षि के चित्र का अनावरण कर उसे उन्हें समर्पित कर दिया था।**
2. **रमण महर्षि, पृष्ठ 16।**

इंगलिश भी जानता है। पलणि स्वामी नाम के एक मलयाली साधु रमण महर्षि के पास आये और वे उनकी सेवा में लग गये । आगे उन्होंने उनकी बीस वर्षों तक सेवा की थी।

इधर मदुरै तथा मानमदुरै में वेंकटरमण के घरवालों को उनका कहीं कोई पता न लगा। करीब दो वर्षों के बाद घरवालों को पता लगा, अतएव महर्षि के चाचा नेलैयप्प अय्यर गुरुमूर्तम में जाकर उनके दर्शन किये। उनके बाल रूखे और उलझे थे, नाखून बड़े-बड़े थे। उनका सब कुछ अस्त-व्यस्त था। चाचा नेलैयप्प अय्यर वेंकटरमण को घर ले जाना चाहते थे, परन्तु उन्होंने अपना मौन नहीं तोड़ा। अंततः चाचा घर लौट गये। घर लौटते समय गुरुमूर्तम के पास एक पंडित से वेंकटरमण के विषय में उनकी राय जानना चाहा तो पंडित ने कहा "वह लड़का जो वहां बैठा है बे-पढ़ा-लिखा है और उसका दर्शन भी अधकचरा है।" विद्याभिमान-वश कम पंडित महात्माओं को समझ पाते हैं।

गुरुमूर्तम में 19 महीने रहने के बाद रमण महर्षि अरुणगिरिनाथ देवालय में आ गये। वे भिक्षा करके भोजन कर लेते थे। एक गली में एक दिन जाते थे। किसी के द्वार पर खड़ा होकर ताली बजा देते थे। गृहपति जो दे देता उसे खाकर सिर के बाल में हाथ पोंछकर चल देते। उन्होंने बहुत पीछे भक्तों को बताया था कि पहली बार भिक्षा मांगने में लज्जा लगी थी। उसके बाद कभी लज्जा नहीं लगी।

रमण महर्षि अब अरुणाचल पर्वत के 'पवल कुंडू' नामक स्थान में रहने लगे थे। उनके घर से निकलने के अट्ठाइस (28) महीने के बाद उनकी माता अलगम्माल अपने बड़े पुत्र नागस्वामी को लेकर वहां आयीं। रमण महर्षि एक शिला पर बैठे थे। माता ने उनसे घर लौटने का आग्रह किया। उन्होंने माता की बातें सुनकर अपनी आंखें कुछ मिनट के लिए बंद कर लीं। माता अलगम्माल तथा पुत्र नागस्वामी कहीं ठहरकर रोज-रोज रमण महर्षि के पास आते। माता घर चलने का आग्रह करती, परंतु वे अचल बैठे रहते। जब माता रोने लगती; तब वे उठकर चल देते। एक भक्त ने रमण महर्षि से उत्तर देने की राय दी, तो रमण महर्षि ने लिख दिया—"भवितव्य होकर रहता है, सर्वोत्तम मार्ग है मौन रहो।" इसके बाद माता अपने बड़े पुत्र के साथ मानमदुरै लौट गयीं।

5. सहज अवस्था में प्रत्यागमन

महर्षि 1899 ई० के आरंभ में पवलकुंडू छोड़कर विरुपाक्ष गुफा में रहने लगे, साथ में मलयाली साधु पलणि स्वामी भी रहते थे। वे दोनों के लिए बस्ती से एक बार भोजन मांगकर लाते थे। किन्तु थोड़े ही दिनों में मांगने की आवश्यकता नहीं रही। भक्त लोग खाने-पीने की वस्तुएं स्वाभाविक लाने लगे। अब रमण महर्षि नित्य स्नान भी करने लगे और मौन तोड़कर समय-समय से

पलणि स्वामी से ज्ञानचर्चा भी करने लगे। पलणिस्वामी पुस्तकालय से अध्यात्म-रामायण, योगवासिष्ठ, कैवल्यनवनीतम्, विवेक चूड़ामणि आदि ले आते थे और दोनों यथाशक्ति उनका अध्ययन करते थे। रमण महर्षि ने पलणि स्वामी से मलयालम भाषा सीखी तथा आगे चलकर जब काव्यकंठ गणपति शास्त्री मिले तब उनसे संस्कृत सीखी।

महर्षि रमण घर से निकलकर तिरुवण्णामलाई तथा आसपास में रहकर मौन और समाधि में करीब तीस (30) महीने बिताये। उसके बाद वे बोलने, पढ़ने तथा भक्तों-संतों से बातचीत करने लगे। उन्होंने आगे चलकर भक्तों को बताया था कि तीस महीने के मौन, तप एवं समाधि उनका कोई योजनाबद्ध कार्यक्रम नहीं था, अपितु अंतर्मुखता की एक खुमारी थी।

रमण महर्षि की प्रसिद्धि एक सिद्ध पुरुष के रूप में चारों तरफ फैलती जा रही थी। उनके दर्शनार्थ साधारण जनता, व्यवसायी, विद्वान, साधक—सभी प्रकार के लोग आते थे।

6. अत्याश्रमी

रमण महर्षि सच्चे संन्यासी थे, परन्तु उन्होंने किसी से विधिवत संन्यासदीक्षा नहीं ली थी। जब वे विरुपाक्ष गुफा में रहते थे तब एक प्रसिद्ध मठ के एक शास्त्री जी ने रमण महर्षि से आग्रह किया कि आप विधिवत संन्यासदीक्षा ले लें। उन्होंने कहा कि मैं सामग्री ले आऊंगा और दीक्षा भी दे दूंगा। वे इतना कहकर भोजन करने गये। इतने में एक दूसरे सज्जन आये जिनके पास पुस्तकों का एक बंडल था। वह बंडल महर्षि के पास रखकर स्नान-भोजन के लिए गये और उसे उन्होंने उनसे देखते रहने का आग्रह किया। रमण महर्षि ने सोचा कि देखें ये कौन पुस्तकें हैं। जैसे उन्होंने ऊपर की पुस्तक का पन्ना पलटा वैसे उसमें एक श्लोक मिला, जिसका आशय था "जो भी इस अरुणाचल के तीन योजन के घेरे में रहते हैं, वे दीक्षा न भी लें तो जन्मों के बंधन से मुक्ति पायेंगे और मुझमें लीन होंगे—यह मेरा (देवता का) वचन है।" जब शास्त्री जी भोजन करके महर्षि से दीक्षा के लिए स्वीकृति लेने आये तब उन्होंने वह श्लोक दिखा दिया, फिर शास्त्री जी नमस्कार कर चुपचाप चले गये। महर्षि ने आगे चलकर यह कहा था कि मैं अत्याश्रमी हूं।[1]

7. भगवान रमण महर्षि और भक्त

काव्यकंठ गणपति शास्त्री संस्कृत के विद्वान थे। परंतु उन्हें संतोष नहीं मिला था। जब वे ब्राह्मण स्वामी से मिले तब संतोष मिला। उन्होंने उन्हें "भगवान रमण महर्षि" नाम दिया, तब से उन्हें रमण महर्षि कहा जाने लगा।

---

1. **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास-चारों आश्रमों से पार को अत्याश्रमी कहते हैं।**

काव्यकंठ गणपति शास्त्री, टी० वी० कपाली शास्त्री तथा देवरात आदि विद्वान जिज्ञासुओं के प्रश्न तथा महर्षि के उत्तर में संस्कृत में 'रमणगीता' नामक पुस्तक की रचना हुई। टी० वी० कपाली शास्त्री ने महर्षि के लिए श्रद्धा समर्पित किया, परंतु अंत में उनके उपदेश उनको बहुत कड़े लगे, अतएव वे श्री अरविंद के अनुयायी हो गये।

अंग्रेजी शासन का समय था। एक इक्कीस वर्ष की आयु के अंग्रेज पुलिस अधिकारी थे जिनका नाम 'हंफ्रीज' था। वे साधक थे। उन्हें चमत्कार पर विश्वास था। रमण महर्षि ने उन्हें चमत्कार से विरत रहने की सीख दी थी। उन्होंने हंफ्रीज को बताया था कि दिखनेवाली वस्तुओं एवं घटनाओं को महत्त्व मत दो, किन्तु उसे महत्त्व दो जो इन्हें देखता है। वह देखने वाला तुम्हारे भीतर है। हंफ्रीज ने पूछा क्या मैं संसार की सहायता कर सकता हूं। महर्षि ने उत्तर दिया था कि यदि तुम अपनी सहायता करते हो तो संसार की सहायता करोगे। महर्षि के कहने का भाव शायद यह था कि यदि मनुष्य अपने को शुद्ध बना ले तो उसके द्वारा दूसरे की सहायता निश्चित होगी। हंफ्रीज ने महर्षि से मिलने तथा उनसे लाभान्वित होने की बातें लिखकर अपने मित्र के पास लंदन भेजी थी जो वहां की एक पत्रिका में प्रकाशित हुई।

8. दलितों से प्रेम

महर्षि दलित, गरीब एवं निम्न कहे जाने वाले लोगों से प्रेम करते थे। गर्मियों में दलित समाज की नारियां जब घास का बोझा लेकर महर्षि के निवास तक पहुंचतीं तब वे वहीं रुक जातीं और पानी पीने की आशा करतीं। महर्षि पहले से ही पानी भर रखते और वे उन्हें पानी पिलाते।[1]

एक दिन एक व्यक्ति ने आश्रम के बाहर से पुकारा कि क्या मैं महर्षि के दर्शन कर सकता हूं। लोगों ने कहा, आते क्यों नहीं। उसने कहा—मैं अछूत हूं। भक्तों ने कहा, महर्षि के पास जाति-भेद नहीं है। वह आया और महर्षि के चरणों में लोट गया।

एक बार पर्वत पर एक बच्ची अपने भेंड़ें चरा रही थी। उसके भेड़ का एक बच्चा दरार में फिसलकर फंस गया। उसे निकालना बच्ची की शक्ति के

---

1. **बात ऐसी थी कि वहां के 'मुलैपाल तीर्थम' नाम के जलाशय का पानी दलित या उनकी नारियां छू नहीं सकते थे, क्योंकि वे तथाकथित ब्राह्मणों की भाषा में अछूत थे। महर्षि उनके हाथ में घड़े से पानी डालकर पिलाते थे। उत्तर के ब्राह्मणों से दक्षिण के ब्राह्मण आगे थे। वे जलाशयों को भी उनसे बचाते थे जिन्हें वे अछूत मानते थे। हिन्दुत्व के पतन में ऐसे ब्राह्मणों का सहयोग प्रशंसनीय रहा है। विद्वान कहे जाने वालों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि मनुष्य मूलतः समान है। जो पशु को तो पूजता हो और मनुष्य को अछूत मानता हो वह अपने समाज को गड्ढे में न ले जायेगा तो क्या करेगा!**

बाहर था। महर्षि रमण घूम रहे थे। उन्होंने यह स्थिति जानी और वे दरार में उतर गये तथा भेंड़ के बच्चे को अपने कंधे पर रखकर ऊपर आ गये।

रमण महर्षि के गृहत्याग के बाद तीस महीने तक मौन तथा समाधिपूर्वक अवधूत जैसी दशा बनी रही। उसके बाद उनका पूरा जीवन सहज रहा। उनके पास साधक एवं भक्त आते और महर्षि उनकी समस्या एवं शंकाओं का समाधान करते थे।

9. माता अलगम्माल का पुरागमन

जब माता अलगम्माल महर्षि के पास से निराश होकर घर लौट गयी थीं, तब 1898 ई० में उनके ऊपर भयानक विपत्ति आयी, उनके ज्येष्ठ पुत्र नागस्वामी की मृत्यु हो गयी। पंद्रह वर्षों के बाद वे काशी और तिरुपति तीर्थयात्रा में गयीं और रमण महर्षि के पास भी आयीं। दूसरी बार आने पर वे बीमार हो गयीं। वे तीन सप्ताह तक ज्वर से पीड़ित रहीं। अच्छी होने पर घर लौट गयीं। कुछ ही दिनों में उनके ज्येष्ठ नेलैयप्प अय्यर का निधन हो गया। उसके बाद उनके छोटे पुत्र नागसुंदरम् की पत्नी अपने दूध पीते बच्चे को छोड़कर चल बसी।

इन दुखद घटनाओं के बाद माता अलगम्माल को लगा कि मुझे अपने संन्यासी बेटे के पास चली जाना चाहिए और वे उनके पास आ गयीं। कुछ दिनों में उनका छोटा पुत्र नागसुंदरम् भी महर्षि के पास आ गया और वह महर्षि के आश्रम में निरंजनानंद नामक संन्यासी के रूप में प्रसिद्ध हुआ तथा आश्रम की देखभाल करने लगा। माता भोजन बनाने का काम करने लगी।

10. स्कंदाश्रम

अब आश्रम के विस्तार की आवश्यकता पड़ी। स्कंदस्वामी नाम के एक भक्त थे जो शरीर से बलवान थे, उन्होंने मजदूरों की सहायता लेकर आश्रम का विस्तार किया; इसलिए इस आश्रम का नाम स्कंदाश्रम पड़ गया। माता अलगम्माल एक भक्त की तरह रहती थीं। उनका 19 मई, 1922 ई० में शरीर छूट गया। उनके शव की पर्वततल पर समाधि दी गयी।

11. रमणाश्रम

स्कंदाश्रम में महर्षि 1916 ई० से रह रहे थे। 1922 ई० में माता के मरने के बाद वे उनके समाधिस्थल पर बार-बार जाते थे। वे दिसम्बर 1922 ई० में समाधि पर जाने के बाद स्कंदाश्रम लौटे ही नहीं। फिर यहीं आश्रम बना जो 'रमणाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें वे जीवन के अंत 1950 ई० तक रहे और वहीं उन्होंने शरीर त्यागा।

यह आश्रम पहले एक फूस के बरामदे से शुरू हुआ। अब यहां बहुत-से भवन खड़े हैं। आश्रम की व्यवस्था महर्षि के छोटे भाई स्वामी निरंजनानंद करते थे। महर्षि के शरीरांत के तीन वर्ष बाद उनका निधन 1953 ई० में हुआ था।

महर्षि पहले अरुणाचल पर्वत की परिक्रमा किया करते थे और दूसरे को भी उसके लिए उत्साहित करते थे, परन्तु 1926 ई० से उन्होंने परिक्रमा करना छोड़ दिया। वे भोजन बनाने में सहयोग करते थे, कुछ दिनों में वह भी छोड़ दिये। अब वे अपने कक्ष में ही रहते थे। उनके प्रातः-सायं घूमने, स्नान, भोजन, विश्राम आदि के समय निर्धारित रहते थे, जिससे दर्शनार्थियों को दर्शन के समय की सुविधा रहती थी।

एक बार उनके भक्तों ने उनसे कहा कि यदि आप एक बार भारत भ्रमण कर लें तो बहुत मनुष्य आपके दर्शन से कृतार्थ हो जायें। उन्होंने भक्तों की बातों पर हास्य व्यंग्य करते हुए कहा—"मुझ लंगोटी वाले भिखारी पर कौन ध्यान देगा! हां, गले में अपने नाम की पट्टी लटका लूं या भक्तों का एक दल मेरे पीछे चिल्लाता फिरे कि लोगो, सावधान, यह रमण महर्षि आ रहे हैं। तो जरूर काम बन सकता है।" महर्षि जब से घर त्यागकर अरुणाचल आये तब से मृत्युपर्यंत वहीं रह गये। उन्होंने कभी भ्रमण नहीं किया।

12. उनकी सहनशीलता

पहले जिस पर्वत पर रमण महर्षि रहते थे, कुछ दूर पर एक दूसरे साधु रहते थे। उनकी उम्र महर्षि से अधिक थी। पहले महर्षि उनसे मिला करते थे। पीछे जब महर्षि की ख्याति बढ़ी और उनके पास बहुत-से भक्त आने लगे तब उस साधु के मन में महर्षि के लिए ईर्ष्या-जलन होने लगी। धीरे-धीरे उसकी ईर्ष्या इतनी बढ़ गयी कि वह महर्षि का अनिष्ट या उनकी हत्या करने तक सोचने लगा। कई बार उसने बुरा व्यवहार किया। एक बार महर्षि एक पत्थर की चट्टान पर बैठे थे। उस बूढ़े साधु ने ऊपर पर्वत से एक पत्थर ढकेल दिया जो महर्षि के ऊपर तो नहीं आया, उनके पास गिरा। महर्षि ने ऊपर जाकर उसे रंगे हाथों पकड़ लिया, परंतु उसने उसे विनोद में टाल दिया। उस साधु ने स्वयं तो हार मान ली, परंतु उसने एक दूसरे जवान साधु वेषधारी को उनके पीछे लगा दिया जो गुंडा था।

वह वेषधारी लोगों से कहता कि वेंकटरमण (रमण महर्षि) तो मेरा चेला है। एक दिन अकेले में उसने महर्षि से कहा कि मैं तुम्हारे भक्तों से कहूंगा कि वेंकटरमण मेरा चेला है और उनसे रुपये वसूला करूंगा। तुम्हें इसमें कुछ भी एतराज नहीं होना चाहिए। महर्षि जिस गुफा में रहते थे उसके बरामदे में उस वेषधारी ने एक दिन टट्टी कर दी। एक दिन उसने महर्षि रमण पर थूक दिया,

महर्षि ने कुछ भी नहीं कहा, अंतत: वह थककर चला गया।

एक साधुवेषधारी ने एक बार महर्षि से कहा कि भगवान ने मुझसे स्वप्न में कहा है कि तुम वेंकटरमण को दीक्षा देकर उन्हें अपना शिष्य बनाओ। महर्षि ने कहा कि जब इसी प्रकार भगवान मुझसे भी स्वप्न में कह देगा तब मैं आपसे दीक्षा ले लूंगा।

पर्वत की तलहटी में अब आश्रम बन गया था, महर्षि आश्रम में थे। अन्य कई साधु भी थे। रात में कई चोर आये। चोरों ने एक जंगला तोड़ डाला। महर्षि अपने साधुओं के साथ जग गये थे। साथ के संतों ने प्रतिरोध करने की बात कही। महर्षि ने कहा उन्हें अपना काम करने दो। हम साधु हैं, हम अपना क्षमा-धर्म पालन करें। महर्षि ने चोरों से कहा कि यहां अंदर आ जाओ और जो कुछ यहां है, ले जाओ। चोरों ने उनका यह कथन छल समझा और कहा कि हम छप्पर में आग लगा देंगे। महर्षि ने कहा कि आग मत लगाओ। हम लोग आश्रम से निकल जाते हैं और तुम लोग आकर यहां जो कुछ है ले जाओ।

जब एक साधु आश्रम से निकला तब एक चोर ने उन्हें एक लाठी मारी जिससे साधु लोग प्रतिरोध न करें। जब महर्षि निकले तब उनकी जंघे में भी चोर ने लाठी मारी। महर्षि ने कहा कि यदि संतोष न हुआ हो तो दूसरी जंघे में भी मार दो।

महर्षि अपने साधुओं के सहित पास की झोपड़ी में बैठ गये। एक साधु चुपके से गांव में सहयोग मांगने के लिए चला गया। इधर एक चोर ने आकर महर्षि से कहा कि लालटेन दीजिए। उन्होंने अपने साधु से लालटेन जलाकर देने की बात कही। साधु ने लालटेन जलाकर दे दी। फिर एक चोर ने आकर कहा कि अलमारी की चाभी दीजिए। साधु ने कहा कि चाभी जिस साधु के पास है वह यहां नहीं है। चोरों ने दराज तोड़ डाली। उन्हें उसमें दस रुपये का सामान और छह रुपये नकद मिले। एक चोर छड़ी घुमाते हुए महर्षि के पास आया और पूछा कि आप धन कहां रखते हैं। महर्षि ने कहा कि हम गरीब साधु हैं, दान के सहारे गुजर-बसर करते हैं। हमारे पास धन कहां है! चोरों को झुंझलाहट आ रही थी। अंतत: वे निराश होकर चले गये।

जब चोर आश्रम की अलमारी का ताला तोड़ रहे थे, एक साधु जान पाया कि चोर ने महर्षि को भी मारा है तो उसने लोहे का एक छड़ लेकर महर्षि से आज्ञा मांगी कि चोर को मारें। महर्षि ने उसे समझाकर शांत किया कि यह साधु का धर्म नहीं है। ये तो घोर अंधकार में पड़े वज्र मूर्ख हैं। यदि तुम्हारे छड़ की चोट से कोई चोर मर जाये तो हमारी बड़ी बदनामी होगी।

इतने में जो साधु गांव गया था वह पुलिस लेकर आश्रम पर आया। पुलिस के पूछने पर महर्षि ने कहा कि चोर यहां कुछ न पाने से निराश होकर चले

गये। पुलिस ने यही बात लिख ली और वे चल दिये। पीछे एक साधु ने दौड़कर पुलिस को बताया कि चोरों ने मुझे तथा महर्षि को मारा भी है तथा जो कुछ पाये ले गये हैं। सुबह पुलिस के बड़े अफसर भी जांच में आये। अंतत: चोर पकड़े गये और गया हुआ सामान उनसे बरामद हुआ और चोर जेल गये।

जब चोर आश्रम से चले गये थे तब महर्षि ने साधुओं से कहा कि जिनको चोट लगी है, चोट पर मलहम लगा लें। एक साधु ने महर्षि से कहा कि महाराज, आपकी चोट पर भी मलहम लगा दें। महर्षि ने विनोद में कहा कि भाई, मेरी तो पूजा हुई है। सत्कार करना पूजा कहलाता है और पीटा जाना भी पूजा कहलाता है।

एक बार रमण महर्षि एक इमली के पेड़ के नीचे बैठे थे। इमली के फल पके थे। उन्हें चुराने के लिए कई चोर आ गये। एक ने इन्हें देखकर अपने साथी से कहा ''इस बैठे हुए आदमी की आंखों में कोई जहरीली चीज छोड़ दो जिससे यह देख न सके।'' रमण महर्षि यह बात सुनकर न हिले-डुले तथा न कुछ बोले। तो एक दूसरे चोर ने कहा ''इस बैठे हुए आदमी की कोई चिंता न करो। यह तो मिट्टी की मूर्ति है।''

13. उनकी सरलता

महर्षि बहुत सरल थे। उनसे कोई सहज ही मिल सकता था। वे लोगों के साथ मधुर बरताव करते थे। वे कोई चमत्कार की बात नहीं करते थे, किन्तु 'मैं कौन हूं' पर जोर देते थे। वे आत्मज्ञान की चर्चा करते थे। उनका व्यवहार इतना सरल था कि उन्हें कई नये आगंतुक, राज-मजदूर या रसोइया समझ लेते थे। एक बार तो एक व्यक्ति ने एक भक्त से कहा कि आपके महर्षि में क्या विशेषता है, वे तो साधारण मनुष्य की तरह खाते, पीते और व्यवहार बरतते हैं। भक्त ने समझाया था कि जीवन्मुक्त महात्मा को बाहर से नहीं पहचाना जा सकता।

''सरल जीवन, मितव्ययिता और चीजों की बरबादी व फिजूलखर्ची को रोकने की शिक्षा वे आश्रमवासियों को उपदेश से नहीं, बल्कि स्वयं अपने उदाहरणों से देते थे। डाक में जो लिफाफे और पुस्तकों आदि पर लिपटा कागज निकलता, उस सबको वे लिखने व अन्य कामों के लिए संभालकर रख लेते थे। नारियल के खोलों के वे प्याले और चम्मच बना लेते, उन्हें आबनूस जैसा चमका लेते और सहायकों से कहते, 'इन्हें संभालकर रखना और ध्यान से इस्तेमाल करना, ये हमारे चांदी के प्याले और सोने के चम्मच हैं।' संतरे के छिलके अचार बनाने के लिए और मुरझाए गुलाब की पंखुड़िया पायस (खीर) को सुगंधित करने के लिए बचायी जाती थीं। वे बड़ी मेहनत से पांडुलिपियों और प्रूफों का संशोधन करते, पद्यों को बिलकुल शुद्ध सुंदर अक्षरों में उतारते,

जिल्दसाज की-सी कुशलता से पुस्तकों की जिल्द बांधते, सब्जियां काटते, पत्तलें बनाते और रसोई के काम में हाथ बंटाते थे। इस प्रकार श्रम की गरिमा और सादगी की मनोहरता का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। कर्म उनके लिए कोई विशेष कर्मकांड नहीं बल्कि रोजमर्रा के वे काम थे जो हम सभी को करने होते हैं।''[1]

''महर्षि ने एक बार खिन्न होकर कहा था—'मेरी मां जब गुजरी तो मैंने सोचा था कि मैं अब बंधन से छूट गया और किसी गुफा-वुफा में एकांत में रह सकता हूं। परंतु वस्तुत; मैं अब और भी ज्यादा बंधन में हूं। मैं बाहर तक नहीं जा सकता।'....1945 ई० में उन्होंने एक बार असंतोष प्रकट करते हुए कहा साधु होना बड़ी टेढ़ी खीर है, यह बात मैं पचास साल के अनुभव से कह रहा हूं। इन्होंने मेरे चारों ओर जंगला खड़ा कर दिया है जिसे मैं पार नहीं कर सकता। बारी-बारी से मुझ पर नजर रखने के लिए लोग विशेषरूप से नियुक्त हैं। अपने इच्छानुसार मैं घूम नहीं सकता। इसमें और जेल में फरक ही क्या है?''[2]

14. उनसे प्रभावित

देश-विदेश के अनेक लोग रमण महर्षि से प्रभावित हुए और उनके आश्रम में दर्शनार्थियों एवं जिज्ञासुओं का जमघट बना रहता था। किसी भी सदाचारी के प्रति लोगों का आकर्षण होता है। समसामयिक कांची के शंकराचार्य ने अपना भाव प्रकट किया था—''कोई भी धर्म अपने सिद्धान्तों के कारण नहीं फैलता। लोग सिद्धान्त की कोई खास परवाह नहीं करते। जब कोई मनुष्य ऐसा प्रकट होता है जिसके जीवन और आचरण में असाधारण अच्छाई होती है, जो करुणा और शांति से पूर्ण होता है, तो लोग उसको एक नजर देखते ही उस पर विश्वास करने लगते हैं। उसकी शिक्षा को वे स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि इस तरह का मनुष्य जिन सिद्धान्तों का समर्थन कर रहा है उनमें जरूर सार होगा। दूसरी ओर कोई सिद्धान्त चाहे जितना ही सारवान हो या सच्चा हो, पर यदि उसके समर्थक आचरण में विफल रहते हैं तो वह जन साधारण को आकर्षित नहीं करता।''[3]

विदेश से ''आर्थर ऑजबर्न'' 1945 ई० में तिरुवण्णामलाई आये और रमणा-श्रम में रहने लगे। उन्होंने महर्षि पर बहुत कुछ लिखा। उनकी इंगलिश में लिखी महर्षि रमण की प्रामाणिक जीवनी है जिसका हिन्दी अनुवाद भी मिलता है।

---

1. रमण महर्षि, पृष्ठ 50।
2. वही, पृष्ठ 55।
3. वही, पृष्ठ 56-57।

15. अंतिम दिन

रमण महर्षि की बायीं कोहनी पर फरवरी, 1949 ई० में कैंसर हुआ और वह ऊपर को फैलता गया। महर्षि आपरेशन कराने के इच्छुक नहीं थे, किन्तु भक्तों ने जोर डालकर उसका चार आपरेशन कराया, किन्तु सफलता न हुई। अंतत: कंधे के निकट तथा भुजा के ऊपर कैंसर की गांठ निकली। इसी का चौथा आपरेशन हुआ। इसके बाद 14 अप्रैल, 1950 ई० को उनका शरीरांत हो गया।

महर्षि के उपदेशों का संकलन एवं उनकी वाणियां आज भी समाज को प्रेरणा देती हैं। उन्होंने कहा था ''जीव की ब्रह्म से एकता होने में ब्रह्म श्रुत मात्र है तथा जीव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तुम प्रत्यक्ष अनुभव से ही लाभ उठा सकते हो; अत: देखो तुम कौन हो।''[1] महर्षि प्रष्टाओं से बारंबार कहते थे ''मैं'' को पहिचानो।

---

1. रमण महर्षि से बातचीत, पृष्ठ 331।

26

पेरियार ई० वी० रामास्वामी

जो कर्मकांड और पांखड के विरोधी थे, मनुष्य समाज के बीच में उठायी गयी वर्णवादी एवं भेदवादी दीवारों के ध्वंसक थे, पूरी मानवता को एक सूत्र में बांधने के लिए व्याकुल थे, दीनों पर करुणाशील और अपने समतावादी सिद्धान्त के लिए पूर्ण समर्पित थे, उस सामाजिक क्रान्ति के वीर योद्धा पेरियार ई० वी० रामास्वामी के जीवन और संघर्ष का यहां संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

1. जन्म और जन्मभूमि

तमिलनाडु (मद्रास) प्रदेश में 'ईरोडु' नाम का एक बड़ा कस्बा है। उत्तरी भारत में जिसे गड़रिया कहा जाता है, मद्रास प्रदेश में उसे 'नायकर' कहते हैं, ये लोग भेड़ पालते हैं। इसी समाज का एक व्यक्ति था जिसका नाम 'वेंकट नायकर' था। वेंकट नायकर के माता-पिता उनके बाल्यकाल में ही दिवंगत हो गये थे, अत: उन्हें अपनी अठारह वर्ष की उम्र से ही अपने परिवार को पालने का भार उठाना पड़ा। वेंकट नायकर पत्थर की जुड़ाई करने वाले राजमिस्त्री के अधीन सहायक का काम करते थे और उनकी पत्नी साथ में पत्थर की ढुलाई की मजदूरी करती थी। कुछ दिनों बाद इन दोनों प्राणियों ने चावल बेचने की दुकान खोली और वेंकट नायकर अपनी अड़तीस वर्ष की उम्र में थोक व्यापारी तथा आढ़तिया हो गये। आगे चलकर इनका व्यापार खूब बढ़ा।

1877 ई० में वेंकट नायकर तथा उनकी पत्नी चिन्नत तायम्माल को एक पुत्र पैदा हुआ। जिसका नाम ई० वी० कृष्णास्वामी रखा गया और दो वर्ष बाद 17 सितम्बर 1879 ई० में दूसरा पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम रखा गया ई० वी० रामास्वामी जिसे संसार पेरियार ई० वी० रामास्वामी नायकर के नाम से जानता है और जो तमिलनाडु प्रदेश के लिए एक युगप्रवर्तक हुआ तथा पूरी मानवता के लिए प्रेरणास्रोत। उनका मुख्य नाम ई० वी० रामास्वामी था। 'पेरियार' तमिल भाषा में 'महान' को कहते हैं। यह समाज द्वारा उनकों दिया गया विशेषण है। ई० का पूरा शब्द है 'ईरोडु' जो उनके जन्मस्थान (कस्बा) का नाम है, वी० का पूरा शब्द है 'वेकट' जो उनके पिता का नाम है, रामास्वामी उनका मूल नाम है और नायकर तथाकथित जातिबोधक शब्द है जो भेड़ पालने वाले के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार उनका पूरा नाम 'पेरियार

ई० वी० रामास्वामी नायकर' कहा जाता है।[1] परन्तु वे न जाति मानते थे और न जातिवाचक शब्द अपने नाम में लगाते थे, इसलिए यहां भी उसे नहीं लगाया जायेगा।

2. बालपन एवं कैशोर में ही क्रान्ति के संस्कार

रामास्वामी बालक को उसकी नानी ने गोद ले लिया, अत: वह अपने ननिहाल में रहने लगा। नानी बहुत गरीब थी, इसलिए बालक का पालन-पोषण बहुत विपन्नता में होता था। इधर उसके बड़े भाई कृष्णास्वामी का पालन संपन्न माता-पिता के घर सुखपूर्वक होता था। यह देखकर पिता वेंकट ने अपने छोटे पुत्र रामास्वामी को अपने घर बुला लिया।

बालक रामास्वामी को छह वर्ष की उम्र में विद्यालय में प्रवेश दिलाया गया और वह छह वर्षों तक पढ़ता रहा। परन्तु उसे विद्यालय तथा उसकी शिक्षा पद्धति रुचिकर नहीं लगते थे। उसको लगता था कि शिक्षा में भी पोंगापंथी पाठ पढ़ाया जा रहा है।

किशोर रामास्वामी शूद्र, अतिशूद्र तथा अछूत कहे जाने वाले लोगों की गंदी बस्तियों में जाता और उन लोगों को मानवीय एकता का पाठ पढ़ाता, उनके जल-भोजन खाता-पीता और पुरोहितों के असंगत कर्मकांड का परदाफाश करता। सामाजिक विषमता, जातिवादी भावना, छुआछूत, पांखड तथा असंगत कर्मकांड का खंडनकर समाज में समता और सत्यज्ञान लाने का प्रयास करना उनका मुख्य अभियान था। परिवार वालों को उपर्युक्त बातें पसंद नहीं थीं। वे समझते थे कि बच्चे को अच्छे संस्कार के लिए पढ़ाया जा रहा है, परन्तु यह तो उद्दंड हो रहा है। अत: उसकी पढ़ाई रोक दी गयी। पेरियार ई० वी० रामास्वामी ने अपना संस्मरण स्वयं प्रस्तुत किया है—

''अतंत: मेरी पढ़ाई रोक दी गयी। पैक किये गये बंडलों और नीलामी से सम्बन्धित वस्तुओं के ऊपर पते लिखने के लिए दुकान भेजा गया। वहां भी मैं अवकाश के समय पुराणों के सम्बन्ध में वाद-विवाद करता था। मेरे घर में संन्यासियों, पंडितों, संतों और पुरोहितों की निरन्तर आवभगत होती थी। चूंकि मैं उनको पसंद नहीं करता था, अत: वे जो भी कहते उसका मैं न केवल विरोध करता, प्रत्युत मजाक भी उड़ता था। धीरे-धीरे मेरी यह सहज अभिरुचि बन गयी। यद्यपि मैंने पुराणों अथवा धर्मग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था, किन्तु मेरे घर में शैव और वैष्णव पंडित निरंतर धर्म-चर्चाएं करते रहते थे। उन लोगों से मुझे पंडितों से बहस करने के लिए पर्याप्त सूचना और सामग्री मिल

---

1. **विशेषत: दक्षिणी तमिलनाडु में व्यक्ति के नाम में उसके स्थान और पिता के नाम जोड़े जाते हैं।**

जाती थी। मेरे प्रश्नों के उन पंडितों द्वारा दिये उत्तरों में अंतर तो हो ही जाता था, साथ ही उनमें आपस में ही मतभेद हो जाता था। पंडितों के विचारों से उन्हीं के तर्कों को काटने और उनको परेशान करने में मुझे अतुल आनन्द मिलता था। मुहल्ले-पड़ोस के लोगों में मैं कुशल वाग्मी के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा। मेरा विश्वास है कि इसी अनुभव ने संप्रदायों, धर्मों, पुराणों तथा शास्त्रों यहां तक कि देवताओं तक से मेरा विश्वास समाप्त कर दिया।''[1]

रामास्वामी में स्वतन्त्र चिंतन के संस्कार जन्मजात थे। इधर वे व्यापार में भी कुशलता प्राप्त कर रहे थे। वे पाखंड और मतभेद के विरोधी थे। वे सत्य के अनुसंधान के पथ पर निर्भीक होकर चलते थे, इसमें वे परम्परा, समाज, पिता, परिवार, ईश्वर—किसी की परवाह नहीं करते थे।

इतना होने पर भी वे अपने कर्तव्य में दृढ़ रहते थे। पिता द्वारा उनको जो दायित्व दिया जाता था उसे पूर्ण रूप से निभाते थे। उनका स्वयं का उद्‌गार है—

''मेरे पिताजी स्वयं सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यकलाप से अपने को अलग रखते थे, किन्तु मुझे अपने प्रतिनिधि रूप में उन कार्यों में भाग लेने के लिए भेजते रहते थे। हमारा परिवार ईरोडु के मंदिर के सभी उत्सवों में गहरी रुचि रखता था। मेरे पिताजी अपेक्षा रखते थे कि उन सभी धार्मिक कृत्यों एवं उत्सवों में उनकी ओर से मैं भाग लेता रहूं। उनकी इस इच्छा की पृष्ठभूमि में उनका विचार यह था कि ऐसा करने से मेरे हृदय में शुचिता का संचार किया जा सकेगा। मैं 'देव स्थानम समिति' का मंत्री और बाद में उसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। मुझे जो भी कार्य और जिम्मेदारी सौंपी गयी उसका पूरा निर्वाह मैं करता था। मंदिर सम्बन्धी किसी कार्य को न करने अथवा उसकी उपेक्षा करने का मेरे लिए प्रश्न ही नहीं उठता। भले ही मेरी धर्म में कोई आस्था न हो।''[2]

3. विवाह, व्यापार और मंथन

रामास्वामी के पिता वेंकट इस द्वितीय पुत्र से काफी असंतुष्ट थे, क्योंकि यह परम्परा का विरोध करता था। वेंकट परम्परावादी भक्त थे। वे पुरोहितों की बातों को सर-आंखों पर रखते थे। इसके उलटे रामास्वामी पुरोहितों के सारे आचरण को पाखंड मानते थे और भेदभाव के खिलाफ थे।

पिता वेंकट ने सोचा कि यदि इस छोकरे को विवाह के बंधन में डाल दिया जाय तो शायद संयत हो जाय। अंतत: अठारह वर्षीय रामास्वामी का

---

1. **डॉ० व्रजलाल वर्मा, पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 8-9, भावना प्रकाशन, 90 टैगोर टाउन, इलाहाबाद।**
2. **पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 9-10 ।**

विवाह एक तेरह वर्षीया 'नागम्मै' नामक कन्या से कर दिया जो पूर्व रिश्तेदारी में पड़ती थी। नागम्मै देवी-देवता और सारी परम्परा को मानने वाली लड़की और रामास्वामी सब कुछ अस्वीकारने वाला लड़का था। परन्तु धीरे-धीरे नागम्मै ने रामास्वामी को समझने की चेष्टा की। नागम्मै उसी प्रकार पतिव्रता पत्नी थी जैसे साम्यवाद के प्रसिद्ध सूत्रपात करने वाले कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जेनी' थी।

विवाह के दो वर्ष बाद नागम्मै को एक पुत्री हुई, किन्तु पांच महीने में वह मर गयी। इसके बाद नागम्मै को कोई संतान नहीं हुई। नि:संतान दंपती प्राय: असंतुष्ट और परस्पर उदासीन हो जाते हैं और पुरुष दूसरी शादी करने के लिए उतावला हो जाता है जिससे प्राय: पहली वाली पत्नी उपेक्षित हो जाती है। यह सब रामास्वामी तथा नागम्मै में कभी नहीं हुआ। रामास्वामी का लक्ष्य ऊंचा था। उनको निजी संतान की इच्छा ज्यादा नहीं थी, किन्तु समाज की उपेक्षित करोड़ों संतानों को ऊपर उठाने की तीव्र उत्कंठा थी।

रामास्वामी की सत्यनिष्ठा, कार्य करने की कुशलता, लगनशीलता आदि से उनका पैतृक व्यापार चमक गया। पिता की मूल पूंजी से कई गुना धन बढ़ गया। रामास्वामी की व्यापारियों में खूब प्रतिष्ठा हुई। वे गरीबों की सहायता करते थे और शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वालों को ब्राह्मणी कुचक्रों से अवगत कराते थे और कहते थे कि तुम छोटे और अछूत नहीं हो।

रामास्वामी अल्पशिक्षित होने से शास्त्र-पुराण नहीं पढ़ सके थे, परन्तु उनके घर में पुरोहितों का जमघट लगा रहता था। वे उनके मुख से पुराणों और शास्त्रों की बातें सुनकर ग्रहण कर लेते थे और अपने पैने तर्कों से उन्हें परास्त कर देते थे। उनका पूरा परिवार तथा पुरोहित वर्ग एक तरफ तथा केवल रामास्वामी एक तरफ, परन्तु अकेले रामास्वामी के तर्कों से दूसरे पूरे पक्ष को चुप हो जाना पड़ता था।

उपर्युक्त स्थिति ने उग्र रूप धारण कर लिया। घर में कटुता बढ़ गयी। घर के सभी लोग रामास्वामी को बुरी नजर से देखने लगे। वे अपने घर में उपेक्षित-जैसे हो गये। वे जब अति शूद्र कहे जाने वालों के साथ खाते-पीते तथा घर वालों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करते तब लोग अधिक भड़क जाते। रामास्वामी भेदभाव, अंधविश्वास तथा असंगत कर्मकांड के सामने घुटने टेककर घर में नहीं रहना चाहते थे।

4. गृहत्याग

नित्य-नित्य की पारस्परिक किचकिच से ऊबकर बिना किसी को सूचना दिये रामास्वामी अपनी लगभग अठ्ठाईस वर्ष की उम्र में एक दिन गृह त्यागकर उत्तरी भारत की तरफ चल दिये। वे कुछ ब्राह्मण साधुओं के साथ कलकत्ता,

काशी आदि उत्तरी भारत के अनेक नगरों तथा तीर्थों में भ्रमण करते रहे। उन्होंने काषाय वस्त्र धारण किये, लंगोटी और साधु वेष पहना, पूजा, जप, ध्यान, योगाभ्यास आदि किया, ठंडी, गरमी, भूख-प्यास सहे। उनको कई दिन भोजन न मिलने से भूखा रहना पड़ा, फटे वस्त्रों में रहना पड़ा तथा वर्षा, ठंडी आदि में कई बार खुले आकाश में रहना पड़ा, उनका शरीर कृश हो गया।

5. गृहवापसी

रामास्वामी ने कोई वैराग्य से प्रेरित होकर गृहत्याग नहीं किया था, किन्तु पारिवारिक कलह से ऊबकर घर छोड़ा था। अत: उन्हें घर आना ही था। रामास्वामी ने अपने गृहत्याग को गलत पाया। उन्हें उद्देश्यहीन बाहर भटकने की अपेक्षा विवादयुत घर अच्छा लगा और वे घर लौट आये।

घर वाले भी अब नम्र हो गये थे। रामास्वामी घर पर आकर अपना व्यापार पुन: सम्भाल लिये। अपनी सत्यता और कार्यकुशलता के कारण उनकी व्यापार में पुन: धाक जम गयी।

6. पिता का निधन, सार्वजनिक सेवा

सन् 1911 ई० में पिता वेंकट का शरीरांत हो गया। रामास्वामी में समाज के प्रति करुणा और सार्वजनिक सेवा की भावना थी। वे दुखियों के दुख दूर करने के लिए प्रयत्न करते थे। उन्होंने अनेक सार्वजनिक सेवा संस्थानों में अवैतनिक पद ग्रहण कर जनता की सेवाएं कीं। वे देवस्थानम संस्था की सेवा करते रहे। वे बारह वर्ष तक अवैतनिक मजिस्ट्रेट रहे, नगरपालिका के सदस्य रहे और सन् 1919 ई० में ईरोडु नगरपालिका के अध्यक्ष चुने गये। ईरोडु में जब भयंकर प्लेग फैला तब आपने जनता की सेवा में अपनी पूर्ण दक्षता दिखाई और अनेक धनियों को सेवा के लिए प्रेरणा दी। "सन् 1920 ई० तक पेरियार लगभग 29 सार्वजनिक महत्त्व के पदों पर प्रतिष्ठित हुए।"[1] जब आप नगरपालिका के अध्यक्ष रहे, सड़क पर अनधिकृत कब्जा करने वालों की बिल्डिंगें तोड़कर नगर को सुन्दर बनाया। इससे व्यापारी समाज क्रुद्ध हुआ, किन्तु जनता रामास्वामी के साथ होने से सब चुप रहे।

ईरोडु के मंदिरों की दुर्दशा थी, क्योंकि उनके प्रबंधक भ्रष्ट थे। रामास्वामी ने उनकी उत्तम व्यवस्था करवायी और उनके लेखे-जोखे ठीक करवाये। ईरोडु नगर की स्वच्छता देखकर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने जो सेलम नगर के अध्यक्ष थे पेरियार से मांग की कि ऐसी व्यवस्था के लिए मेरे नगर में आप सहयोग करें।

---

1. **वही, पृष्ठ 21 ।**

पेरियार ने अपने पिता के नाम ट्रस्ट का गठन किया। उनके पास पर्याप्त संपत्ति थी। ट्रस्ट के द्वारा वे सार्वजनिक सेवा करने लगे। उन्होंने उसके द्वारा स्कूल और चिकित्सालय खोले और जनसेवा होने लगी।

वे मांस तो खा लेते थे, परन्तु किसी प्रकार के नशा का सेवन कभी नहीं करते थे। इसलिए किसी उत्सव में शराबपान को उन्होंने नहीं स्वीकारा।

7. कांग्रेस में प्रवेश

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्रविड़ देश के प्रतिष्ठित कांग्रेसी थे, विद्वान ब्राह्मण और चरित्रवान तो थे ही, पेरियार की प्रतिभा, सेवाभावना तथा समतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित थे। उन्होंने पेरियार को कांग्रेस में निमंत्रित किया। पेरियार कांग्रेस में 1920 ई० में शामिल हुए। ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों ने आपको रायबहादुर का पद देकर कांग्रेस से विरत करना चाहा, परन्तु पेरियार कांग्रेस में दृढ़ रहे।

पेरियार महात्मा गांधी के कट्टर अनुगामी बने। उन्होंने खादी कपड़े बुने, पहने, बेचे और ऐसी दुकानें भी खुलवायीं जिनमें खादी कपड़े के अलावा कुछ नहीं बेचा जाता था। मद्रास के साधारण लोग एवं मजदूर ताड़ी पीकर अपना धन तथा स्वास्थ्य नष्ट करते थे, गांधीजी ने इसका विरोध कराया। उन्होंने आन्दोलन चलवाया कि लोग ताड़ी न पीयें, न बेंचे। गांधीजी के निर्देश पर ताड़ी के पेड़ कटवाये गये। इन सब कामों में पेरियार गांधीजी के पक्के सिपाही बनकर काम करते थे। अपने गुणों के कारण पेरियार तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी के मंत्री एवं अध्यक्ष के पद पर भी रहे।

पेरियार ने कांग्रेस में राजनीति के लिए प्रवेश नहीं लिया था। उनका उद्देश्य था समाज-सुधार। वे समझते थे कि कांग्रेस भारतव्यापी संस्था है, गांधीजी की नीति भी समतावादी है अतएव पेरियार का भाव था कि कांग्रेस के द्वारा वर्णभेद, जातिभेद, छुआछूत आदि को दूरकर समाज को समता के स्तर पर लाना सरल है।

पेरियार जब कांग्रेस कमेटी में उक्त बातें उठाते तब नेतागण व्यवस्था के नाम पर उन्हें शान्त कर देते। कांग्रेसी ही जाति-पांति की भावना से ग्रस्त थे। यह भी एक सच्चाई है कि जैसे पेरियार चाहते थे कि पूरे मद्रास तथा भारत में तथाकथित वर्ण और जाति को लेकर जो ऊंच-नीच और छुआछूत का विषाक्त वातावरण और कोढ़ है, कांग्रेस द्वारा समाप्त हो जाय, यह सम्भव भी नहीं था। कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य था भारत को स्वतन्त्र करना। इसमें मुख्य योद्धा थे बाभन, ठाकुर और बनिया और इन सबमें पूर्व संस्कार गहरे पड़े थे। पेरियार की बात परम सत्य थी, परन्तु उनकी बातों में उलझा देने से भारत की आजादी

का काम पीछे पड़ जाता और जातीयता का कोढ़ तो तत्काल दूर होना असम्भव था। सत्य से संस्कार अलग हैं। सत्य है कि मानव मूलत: समान है। परन्तु हजारों वर्षों से भारतीयों के मन में इस जहर के संस्कार घुले हैं कि जन्म से ही कोई वर्ग ऊंचा एवं शुद्ध है तथा कोई वर्ग नीचा और अपावन है। इस कुसंस्कार को शिक्षा एवं आचरण से धीरे-धीरे नष्ट किया जा सकता है। दुर्भाग्य है कि हिन्दू कहे जाने वाले समाज के अधिकतम धर्मग्रंथों में तथाकथित सर्वज्ञ देवताओं, भगवानों और ऋषियों के मुख से यही जहर उगलवाया गया है कि अमुक वर्ण, वर्ग एवं जाति जन्म से ही ऊंचे और पावन हैं तथा अमुक नीच और अपावन हैं। अंग्रेजों को खदेड़ना अपेक्षतया सरल था, किन्तु उक्त भेदभाव की नीति को तत्काल समाप्त करना सरल नहीं था। अतएव कांग्रेस की भी अपनी विवशता थी।

पेरियार की सूझ थी कि राजनैतिक परतंत्रता की अपेक्षा सामाजिक परतंत्रता कष्टकर है। अभी कुछ दिन अंग्रेज और रह जायं तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु मुट्ठी भर तथाकथित सवर्णों द्वारा जो अधिकतम जनता शूद्र तथा अतिशूद्र मानकर उपेक्षित है, यह भाव समाप्त हो। चाहे अंग्रेज राज करें चाहे बाभन, ठाकुर तथा बनिया; शूद्र तथा अतिशूद्र को तो उपेक्षित ही रहना है। अंग्रेज तो चाहे अपने राजनैतिक स्वार्थ से ही सही, शूद्रों को उठाना भी चाहते थे; बाभन, ठाकुर, बनिया तो उन्हें छूना भी नहीं चाहते थे। पेरियार का मन इन बातों को सोचकर उद्विग्न हो गया।

8. वायकोम-संघर्ष

ट्रावनकोर रियासत के वायकोम नगर में एक मंदिर के पास के रास्ते पर तथाकथित सवर्णों ने एक विशेष हिन्दू जाति के लोगों को आने-जाने से रोक रखा था। इसके विषय में जार्ज जोसेफ ने जो मदुराई के वकील थे और कांग्रेसी भी थे, पेरियार को सूचना दी। पेरियार ने इसके लिए संघर्ष किया। वे कहते थे कि मंदिर के पास के रास्ते पर हर मनुष्य को चलने का अधिकार है। अंत में ट्रावनकोर की महारानी के आदेश से यह रास्ता सबके लिए खुल गया। महारानी ने महात्मा गांधी से पूछा था कि पेरियार मेरे इस आदेश से संतुष्ट हैं कि नहीं। वे सबके मंदिर प्रवेश के लिए तो आन्दोलन नहीं छेड़ेंगे? गांधीजी के पूछने पर पेरियार ने कहा कि मंदिर में सभी हिन्दू का प्रवेश होना चाहिए यह मेरा लक्ष्य तो है, परन्तु अभी तो मैं इतने से सन्तुष्ट हूं कि रास्ता सबके लिए खुल गया।

वे कैसे हिन्दू सवर्ण थे जो हिन्दू समाज के ही एक वर्ग को उस रास्ते पर नहीं चलने देना चाहते थे क्योंकि वहां एक देवमंदिर है। इन महापुरुषों का चलता तो ये शूद्र कहे जाने वाले लोगों को हवा-प्रकाश भी न लेने देते।

9. कांग्रेस का त्याग

कांचीपुरम में सन् 1925 ई० में कांग्रेस का प्रांतीय अधिवेशन हुआ था। पेरियार ने उसमें यह प्रस्ताव रखा था कि ब्राह्मणों, अब्राह्मणों, इसाइयों, मुसलमानों और दलितों को उनके अनुपात के अनुसार उन्हें सरकारी कार्यालयों में नौकरियां मिलें। वहां तो यह प्रस्ताव नहीं पास हो सकता था, परन्तु ट्रावनकोर सरकार पर इसका दबाव पड़ा और एक वर्ष बाद सरकार ने यह आदेश लागू कर दिया।

पेरियार ने यह अनुभव किया कि कांग्रेस में रहकर हम अपने लक्ष्य में नहीं सफल हो सकते, अत: उन्होंने कांग्रेस छोड़ दिया।

10. आत्मसम्मान संघर्ष समिति

पेरियार ने जस्टिस पार्टी को पसंद किया। यह पार्टी अब्राह्मण समाज के उत्थान का काम करती थी, परन्तु इसमें भी उनको संतोष नहीं हुआ। अत: उन्होंने सेल्फ रेस्पेक्ट मोवमेंट अर्थात 'आत्मसम्मान संघर्ष समिति' का गठन किया। इसका अधिवेशन 17-18 फरवरी सन् 1929 ई० को चेनगल पाट्टू में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में दो प्रस्ताव पारित किये गये जिनका संक्षेप निम्न है—

1. चतुर्वर्ण नाम पर समाज का विभाजन घोर अपराध है, छुआछूत की भावना समाप्त की जाय और सड़कों, कुओं, तालाबों, बावड़ी आदि का प्रयोग करने के लिए सबको समान अधिकार हो।

2. मंदिर में पूजा करने के लिए पैसे न खर्च करवाये जायं, पूजा-उपासना में दलाल की मान्यता न हो, पुरोहिताई समाप्त हो, पूजा-प्रार्थना में संस्कृत तथा उत्तरी भारत की किसी भाषा का प्रयोग न हो।[1] नये मंदिर, मठ, वैदिक पाठशाला बनवाने से लोगों को विरत किया जाय, लोग अपने नाम में जातिबोधक शब्द न लगायें और सार्वजनिक सम्पत्ति का उपयोग शिक्षा तथा लोक-कल्याण में हो।

पेरियार का इन अधिवेशनों तथा अन्य सभाओं में प्रभावी भाषण होते थे। उनसे प्रभावित होकर अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि होने लगे। आदि द्रविड़ बच्चों के लिए पढ़ने की व्यवस्था हुई जो पहले कभी नहीं पढ़ते थे। शूद्र कहे जाने वाले बच्चों के लिए नि:शुल्क शिक्षा व्यवस्था हुई।

---

1. **जातिवादी रोग उत्तरी भारत से आया मानकर उन्हें उत्तरी भारत से चिढ़ हो गयी थी। उन्होंने सार्वजनिक स्थानों पर देवनागरी में लिखे हुए सूचना-पटों को पुतवाकर तमिल भाषा में लिखवाने का भी अभियान छेड़ा था।**

पेरियार द्वारा संचालित 'आत्मसम्मान संघर्ष समिति' का तमिलनाडु में व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे ब्राह्मण कहे जाने वाले लोगों के व्यवहार में भी नम्रता आई।

19. विदेश यात्रा, फिर द्राविड़ कझगम पार्टी

पेरियार ने पहले मलेशिया का भ्रमण किया था। उसके बाद एक विद्वान के साथ जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन, फ्रांस, रूस आदि का भ्रमण किया। उन्होंने रूस से अधिक प्रेरणा ग्रहण की थी।

पेरियार ने द्रविड़ कझगम पार्टी बनायी और उसका संगठन कर उसे चलाने लगे।

12. हिन्दी विरोध

भारत सरकार हिन्दी भाषा को पूरे भारत की एक संपर्क भाषा बनाना चाहती थी। उसको राजभाषा घोषित किया गया और उद्देश्य था कि हिन्दी पूरे भारत में पढ़ी-पढ़ाई जाय जिससे देश की एकता हो और हिन्दी देश की संपर्क भाषा बने।

पेरियार ने इसका विरोध किया। उनको इसमें संदेह होता था कि इससे पूरे देश में ब्राह्मणवाद न लद जाय और अन्य भाषा वाले विरोध में न आ जायं। उन्होंने कहा कि यह जल्दबाजी का कदम है।

फिर सरकार ने उपर्युक्त घोषणा को वापस ले लिया कि जब तक लोग तैयार नहीं हो जाते उन पर हिन्दी लादी नहीं जायेगी।

13. सत्तर वर्ष की उम्र में पुनर्विवाह

पेरियार की पत्नी का 1933 ई० में निधन हो गया। उन्होंने इसके सोलह वर्ष के बाद 1949 ई० में सत्तर वर्ष की उम्र में अपनी युवती सचिव से विवाह कर लिया। इसमें यह बताया गया कि उनके पास करीब पंद्रह लाख का धन था। उनकी कोई संतान नहीं थी। वे अपना धन रिश्तेदारों को नहीं देना चाहते थे। विवाह कर लेने पर वह धन स्वाभाविक विवाहिता पत्नी के नाम पर आ जाता और उससे लोककल्याण होता।

यह कोई नहीं जानता कि किसका शरीर पहले छूटता है। धन का सार्वजनिक ट्रस्ट बना देना सबसे उत्तम काम है। अंत में पेरियार की नवविवाहिता पत्नी अन्नैमणिम्मै ने यही काम किया। उनको भी कोई संतान नहीं थी। अतएव उन्होंने पेरियार से पाये सारे धन का उनके शरीरांत के बाद सार्वजनिक ट्रस्ट बना दिया जिससे असहायों की सेवा हो।

14. सहयोगियों में मतभेद

पेरियार द्वारा स्थापित आत्मसम्मान संघर्ष समिति के पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं में मतभेद शुरू हो गया। बड़े पुरुषों का व्यामोह अनुगामियों को

धक्का देता है। पुनर्विवाह ही तर्कहीन है, फिर सत्तर वर्ष की उम्र में विवाह करना अपने आप में हास्यास्पद है। पेरियार जैसे महापुरुष भी.ऐसे चक्र में फंस गये। फलत: उनकी संस्था के अधिकारी और कार्यकर्ता उनका साथ छोड़ दिये, किन्तु उनको पूर्णरूपेण समर्पित अनुगामी श्री के० वीरामणि ने साथ नहीं छोड़ा। वे उनके विचारों के उत्तराधिकारी प्रचारक आज भी सेवारत हैं।

15. भैंसे की हत्या का विरोध

एक काली मंदिर में प्रतिवर्ष उसकी तथाकथित प्रसन्नता के लिए एक भैंसे की बलि देने के नाम पर हत्या की जाती थी। द्राविड़ कझगम के नेता ने इस वीभत्स कर्म का परिचय पेरियार को दिया। पेरियार ने इसके विरोध में झंडा उठा लिया। अंतत: यह कुकृत्य सदा के लिए बंद हो गया।

16. शंकराचार्य से प्रश्न

तात्कालिक शंकराचार्य ने कहा था कि ''वर्णाश्रम धर्म की जब भारत में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जायेगी तब भारत अपनी चरम उन्नति पर पहुंच जायेगा।'' पेरियार ने शंकराचार्य के इस वक्तव्य की कटु आलोचना की थी। उन्होंने पूछा था कि शंकराचार्य उक्त बातें अज्ञानवश कह रहे हैं कि अहंकारवश।

17. द्राविड़ कझगम से द्राविड़ मुनेत्र कझगम

'द्राविड़ कझगम' के एक वरिष्ठ नेता अन्नादुराई थे। उनका द्राविड़ कझगम से गहरा मतभेद हो गया। इसलिए उन्होंने उस पार्टी से निकलकर 'द्राविड़ मुनेत्र कझगम' पार्टी बनायी जिसको संक्षेप में 'डी० एम० के०' कहते हैं । इस पार्टी का विस्तार हुआ ।

परम कांग्रेसी राजगोपालाचारी ने आपसी मदभेद के नाते कांग्रेस को ही हराने के लिए 'डी० एम० के०' का सन् 1967 ई० में चुनाव में समर्थन कर दिया और 'डी० एम० के०' पार्टी जीत गयी तथा कांग्रेस हार गयी।

मद्रास विधान सभा के शपथ ग्रहण में 'डी० एम० के०' के किसी सदस्य ने ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं ली । 'डी० एम० के०' के सहयोगी ब्राह्मणों ने पार्टी को राय दी थी कि द्राविड़ मुनेत्र कझगम की जगह पर पार्टी का नाम धर्म मुनेत्र कझगम रख दिया जाय, परन्तु पार्टी ने इस राय को स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणों को यह भी आशा थी कि 'डी० एम० के०' पार्टी के लाल-काला रंग के झंडे को पार्टी के लोग बदल देंगे, क्योंकि उनके ख्याल से यह भेदभाव का व्यंजक है, किन्तु पार्टी ने झंडा नहीं बदला। 'डी० एम० के०' के मुख्यमंत्री ने यह भी घोषणा की कि संस्कृत शब्द के श्री तथा श्रीमती के स्थान पर तमिल भाषा के तिरु तथा तिरुपति का प्रयोग किया जायेगा। इसी समय सत्तासीन पार्टी ने मद्रास प्रांत का नाम तमिलनाडु कर दिया। तमिलनाडु सरकार

ने यह भी घोषणा की कि प्रदेश में सरकारी कार्यालयों में देवी-देवताओं के चित्र न लगाये जायं, और अंतर्जातीय विवाह को पुरस्कृत किया जाय। सन् 1970 ई० में मद्रास में कानून पास हो गया कि मंदिरों में हर जाति के लोग पुजारी रह सकते हैं। इन कारणों से पेरियार 'डी० एम० के०' से प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा कि अन्नादुराई ने मेरी पार्टी से निकलकर अलग पार्टी अवश्य बनायी, परन्तु वे मेरा ही काम कर रहे हैं। अन्नादुराई उस समय तमिलनाडु के मुख्यमंत्री थे। उन्होंने पेरियार को मिनिस्टर बनने का निमंत्रण दिया था। परन्तु पेरियार मिनिस्टर से ऊंचे थे। उन्होंने उसे नहीं स्वीकार किया।

पेरियार ईश्वरवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने घोषणा की थी—1.''ईश्वर नहीं है, नहीं है, नहीं है; 2. जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह मूर्ख है; 3. जिसने ईश्वर का प्रचार किया वह दुष्ट है; तथा 4. जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है।''[1] जब विधान सभा के शपथ समारोह में 'डी० एम० के०' के किसी सदस्य ने ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं ली तो यह पेरियार की विजय मानी गयी।

18. ब्राह्मणों के प्रति नरमी

जब कांग्रेसी राजगोपालाचारी के समर्थन से 'डी० एम० के०' की विजय हुई, तब पेरियार ने कहा कि ब्राह्मणों की विजय हुई। राजगोपालाचारी ब्राह्मण कहे जाने वाले परिवार के थे, चरित्रवान तथा विद्वान तो थे ही। पेरियार के मन में ब्राह्मणों के प्रति नरमी आयी थी यह अन्य संकेतों से भी पता चलता है। इससे उनके अनुगामियों के मन में संदेह भी उत्पन्न हुआ था और उन्होंने कहा था कि ऐसा होने से तो अब्राह्मणों के मन में निराशा होगी। पेरियार ने उन्हें समझाया था कि इसमें निराशा की कोई बात नहीं है।

उन्होंने कहा था कि मैं किसी ब्राह्मण से व्यक्तिगत घृणा नहीं करता हूं, किन्तु ब्राह्मणवाद से घृणा करता हूं। उन्होंने कहा, *''मैं यहां स्पष्ट करना चाहता हूं कि आज गैर-ब्राह्मण मंत्रियों ने ब्राह्मण-मंत्रियों की अपेक्षा मुझे और द्रविड़ आन्दोलन को अधिक क्षति पहुंचायी है। आप उन रियायतों को रोक रहे हैं जो ब्राह्मण-मंत्रियों द्वारा पिछड़े वर्गों के बच्चों को दी जाती थी।'*[2]

19. उनकी उदारता

कांग्रेस के नेता कामराज की मूर्ति का अनावरण-समारोह था। सेलम महापालिका ने यह आयोजन किया था। इस सभा की अध्यक्षता करने के लिए पेरियार को निमन्त्रित किया गया था। सभा में प्रथम विषय था ईश-प्रार्थना।

---

1. **वही, पृष्ठ 141 ।**
2. **वही, पृष्ठ 196 ।**

लोगों ने सोचा था कि पेरियार ईश्वर नहीं मानते, अत: ईश-प्रार्थना के बाद उन्हें सभा में लाया जायेगा, परन्तु पेरियार पहले से सभा में आकर अध्यक्ष-गद्दी पर बैठ गये। कार्यकर्ता असमंजस में पड़ गये। किन्तु पेरियार ने विषय के अनुसार स्वयं घोषणा की कि सभा का पहला कार्यक्रम ईश-प्रार्थना है और स्वयं उठकर खड़े हो गये और जब तक प्रार्थना चलती रही, वे खड़े रहे। उनके उक्त उदार व्यवहार से सभा स्तंभित रह गयी।

पेरियार की उम्र जब तीस वर्ष की थी, वे प्रसिद्ध थे ही, वे अपने कणप्पन नाम के एक साथी के सहित रेलगाड़ी से मद्रास जा रहे थे। पास में एक वृद्ध ब्राह्मण भी बैठा यात्रा में था। कणप्पन तथा ब्राह्मण के बीच किसी बात में वाद-विवाद चलने लगा। कणप्पन जरा उत्तेजित होकर बोल रहे थे। पेरियार ने उन्हें राय दी कि कटु शब्द प्रयोग न कर तर्क से अपनी बातें समझाओ।

उस ब्राह्मण ने पेरियार की तरफ मुड़कर कहा—महाशय! आप इसको अपनी सम्मति नहीं दे पायेंगे। यह उस समाज का सदस्य है जिसके नेता रामास्वामी नायकर हैं।

ब्राह्मण के ऐसा कहने पर पेरियार उठकर थोड़े समय के लिए दूसरी तरफ चले गये। तब कणप्पन ने वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि जिसने मुझे सत्सम्मति दी है वे रामास्वामी नायकर ही हैं। इतना सुनकर बेचारा वृद्ध ब्राह्मण पेरियार के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने पेरियार से क्षमा मांगी और कहा कि लोग आपके विषय में जैसा बताते हैं मैंने उससे आपको भिन्न पाया।

20. उनकी बेताबी

पेरियार चाहते थे जाति-पांति का भेदभाव मिटाकर मनुष्य की एक जाति मानी जाय और समाज अंधविश्वास से मुक्त होकर शुद्ध तर्कपूर्ण बुद्धि के पथ पर चले। इसलिए उन्होंने समय-समय पर उत्तेजक घोषणाएं भी कीं। उन्होंने आम जनता, राजनीति के लोगों तथा राज-कर्मचारियों से अनुरोध किया कि वे सरकारी कार्यालयों तथा सार्वजनिक स्थानों से देवी-देवताओं के चित्र हटावें, धार्मिक ग्रंथों में जहां कहीं ब्राह्मणवादी सूक्तियां हो उन्हें मिटावें, जनता ईश्वर का त्याग करे तथा तर्कनिष्ठ हो, समाज से जातिप्रथा को सर्वथा उखाड़कर फेंक दिया जाय और संसार में कहीं कोई ब्राह्मण न रहे।

उनका यह अर्थ नहीं था कि ब्राह्मण मार डाले जायं। उनका अर्थ था कि ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों ने ही यह भेदभाव का प्रपंच फैलाया है। अत: ये अपना प्रपंच छोड़ दें। संसार में कोई अपने को ब्राह्मण न कहे। उन्होंने सिनेमा का बहिष्कार करने की भी जनता से अपील की और कहा कि लोगों को रोका जाय, वे सिनेमा देखने न जायं।

''पेरियार तमिल भाषा में ही लिखते, बोलते और बात करते थे। तमिल भाषा के लिपि सम्बन्धी कतिपय सुधार पेरियार ने सुझाये थे। वे तमिल भाषा के विकास और व्यापक प्रचार के पक्षपाती थे। चाहते थे कि वह बौद्धिक विचार और विज्ञान की भाषा बने।''[1]

परन्तु वहीं वे कहते थे, *''हमें सारी अंग्रेजी जीवन पद्धति को अपना लेना चाहिए। भोजन, वस्त्र, साड़ी, धोती, कमीज में भी परिवर्तन करना चाहिए। खाने, पहनने और बोलने में हमें यूरोपियन पद्धति ग्रहण करना चाहिए। हमको तमिल में बातचीत नहीं करना चाहिए।''*[2] इतना ही नहीं, एक बार एक कालेज में भाषण करते हुए उन्होंने छात्रों से पूछने के लहजे में कहा—*''तुम लोग भाषाओं पर अनुसंधान करने नहीं आये हो, किन्तु मैं तुमसे पूछता हूं कि किसी व्यक्ति को सम्मान देने के लिए तमिल भाषा में क्या एक भी शब्द है! इसीलिए मैं तमिल भाषा को असभ्यता की भाषा कहता हूं। कुछ लोग इस बात पर नाराज हो जाते हैं।''*[3]

वे एक तरफ कहते थे कि ईश्वर नहीं, नहीं है, नहीं है और दूसरी तरफ कहते थे कि—*''मैंने अपने अनुयायियों को निर्देश दिया है कि वे ईश्वर को चप्पलों से पीटें।''*[4] जब ईश्वर है ही नहीं तब उसको पीटने की बात कैसी! उनका मतलब था कि ईश्वर सबके मन से निकल जाय। वे मानते थे कि धूर्त लोगों ने ईश्वर को गढ़ लिया है और उसकी आड़ में जातिवाद तथा अंधविश्वास चलाया जाता है और कमजोर वर्ग का शोषण किया जाता है।

तमिल भाषा में कंबन रामायण है। पेरियार ने एक बार अभियान चलाया कि उनके अनुयायी एक कागज पर कंबन रामायण शब्द लिखकर उसे जला दें और उसकी राख उनके आफिस को भेज दें, इस अभियान में उनके आफिस में राख की ढेर इकट्ठी हो गयी।

पेरियार ने 'रामायण : एक सही अध्ययन' नामक एक पुस्तक लिखी। इसका हिन्दी अनुवाद उत्तर प्रदेश में छपा। हिन्दुओं के आपत्ति करने पर उत्तर प्रदेश सरकार ने उस पर रोक लगा दी, किन्तु अनुवादक की अपील से इलाहाबाद हाईकोर्ट ने उस पर से रोक हटा दी और उसे मुक्त कर दिया। वस्तुत: पेरियार का सारा कथन रामायण के अनुसार था, केवल शैली तथा भाषा प्रहारात्मक थी और कहीं-कहीं अतिक्रमण भी था।

---

1. **वही, पृष्ठ 159 ।**
2. **वही, पृष्ठ 148 ।**
3. **वही, पृष्ठ 156 ।**
4. **वही, पृष्ठ 163 ।**

सन् 1971 ई० में सेलम में अंधविश्वास के विरोध में पेरियार ने दो किलोमीटर लंबा जुलूस निकाला। जुलूस में श्रीराम का दस फीट लंबा व्यंग्य चित्र था। किसी ने जुलूस पर एक पत्थर फेंक दिया, तो एक जुलूस वाले ने श्रीराम के चित्र पर एक चप्पल फेंक दिया। इससे पूरे भारत में यह हल्ला हुआ कि पेरियार ने राम के चित्र को चौराहे पर जूते से पिटवाया है। परन्तु पत्थर फेंकने की प्रतिक्रिया में केवल एक व्यक्ति ने ही चप्पल फेंका था। यह एक संयोग था। उनका यह लक्ष्य नहीं था। यह अलग बात है कि श्रीराम का व्यंग्य चित्र निकालना ही गलत था।

रामायणों में श्रीराम के द्वारा शूद्र कहे जाने वालों को नीच कहलवाया गया है तथा शंबूक की उनसे हत्या करवायी गयी है। इन बातों को लेकर रामास्वामी को श्रीराम पर ही रोष था। परन्तु श्रीराम द्वारा शंबूक की हत्या आदि की कल्पना वर्णाभिमानियों का षड्यंत्र था। इसमें श्रीराम का दोष नहीं।[1]

पेरियार समझते थे कि कांग्रेस सरकार ब्राह्मणवाद का पक्षपाती है, अत: अब भारत से अलग होकर ही मद्रास का कल्याण है। इसलिए उन्होंने 'द्राविड़स्तान' की मांग की। अर्थात जैसे पाकिस्तान भारत से अलग है, वैसे मद्रास भी अलग हो जाय। यह उनकी बेताबी का अतिरेक था। इस संदर्भ में डॉक्टर ब्रजलाल वर्मा ने ठीक ही लिखा है—*''कभी-कभी अत्याचार का अतिरेक पीड़ित व्यक्ति के विवेक को प्रसुप्त बना देता है।''*[2]

दक्षिण भारत में मंदिरों में देवदासियों की प्रथा कुछ अवशेष थी। पेरियार ने इसका घोर विरोध किया था। अंतत: वहां की सरकार ने देवदासी प्रथा का कानूनी तौर पर अंत करवा दिया।

पेरियार ई०वी० रामास्वामी अंधविश्वास-विरोधी, सत्य-अनुसंधाता, अध्य-वसायी, कुशल-व्यवसायी, समतावादी, मानवता के उन्नायक, करुणाशील और सच्चे अर्थ में महामानव थे। उन्होंने जीवन भर कोई सरकारी पद नहीं स्वीकारा। उपेक्षितों और गरीबों को उठाने के लिए इतने बेताब थे कि वे इसको लेकर अनेक बार सत्य के जोश में संस्कारों और भावनाओं की परवाह नहीं करते थे और जो लोक में अनुचित कहा जा सकता है वैसा बोलने तथा करने लगते थे।

उनका हृदय पवित्र था। वे क्रुद्ध थे उन पर जिन्होंने धर्मशास्त्र कहे जाने वाली पोथियों में दूध में पानी की तरह भेदभाव का जहर घोल रखा था। इसीलिए हिन्दूसमाज की नस-नस में समाया है कि अमुक तथाकथित वर्ण एवं जाति छोटे एवं अमुक बड़े हैं, कोई वर्ण एवं जाति जन्म से ही पवित्र है और कोई जन्म से ही अपवित्र है। इस धारणा का समूल नाश जब तक नहीं हो

---

1. **लेखक के 'कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि ' में इसका स्पष्टीकरण पढ़ें ।**
2. **पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 175 ।**

जाता तब तक हिन्दू समाज एवं मानवता का कल्याण नहीं है। भारत सरकार का संविधान मानवता के साथ है। लोगों के संस्कार भी शुद्ध होने की दिशा में बढ़ रहे हैं। कुछ राजनेताओं के भेदभाव के घृणित प्रचार इसमें अवरोधक हैं, परन्तु प्रगतिकाल उनको भी क्षमा नहीं करेगा।

एक सिंह मारकर यदि हम स्वयं सिंह बन जायं तो बात वहीं-की-वहीं रही। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवाद नहीं होना चाहिए, परन्तु यदि हम ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को गाली दें और उनके प्रति समाज में शत्रुता के बीज बोयें तो बात वहीं-की-वहीं रही। इससे समाज, हिन्दू समाज तथा भारत का पतन के सिवा क्या हो सकता है! ब्राह्मणवाद ने एक तरह का पतन किया और अब उसका उलटावाद दूसरी तरह पतन में लगे तो यह उसी तरह निरी बेसमझी होगी।

आवश्यकता है ऊंच-नीच की भावना का समाप्त होना। सभी वर्ग का सभी दिशाओं में समान अधिकार होना और छुआछूत की भावना का प्रयोग दंडनीय अपराध माना जाना और यह सब भारत सरकार द्वारा हो चुका है। अब आवश्यकता है कि सभी वर्ग के लोग विवेकी बनें और परस्पर प्रेम तथा समता का व्यवहार करें। किसी तथाकथित वर्ण और जाति का गीत गाने से व्यक्ति तथा समाज का कल्याण नहीं है। सभी तथाकथित वर्ण एवं जाति के लोगों में से कुछ ऐसे होते हैं जो अपने-अपने वर्ण एवं जाति के लोगों की हत्या करते, उन्हें ठगते, उनके घर में चोरी करते तथा डाका डालते हैं। अतएवं वर्ण और जातिवादी भावना हमारे दिल से निकल जाने के साथ राग-द्वेष निकलना चाहिए। बिना मन शुद्ध हुए न व्यक्ति का कल्याण है और न समाज का।

संस्कृत भारत की प्राचीनतम तथा समृद्ध भाषा है और उसमें ज्ञान के असंख्य रत्न भरे हैं। वह भारत की अन्य प्राय: सभी भाषाओं की जननी भी है। हिन्दी भारत की बहुव्यापी तथा समृद्ध भाषा है, उसके भी असंख्य रत्न हैं और वही पूरे भारत को जोड़ सकती है। इन भाषाओं के ग्रंथों में वर्ण और जातिवादी उल्लेख हैं तो इसलिए न इन भाषाओं का त्याग हो सकता है न इनमें बने ग्रंथों का, प्रत्युत भेदभाववादी उल्लेखों का ही त्याग करना है।

तमिलनाडु में रहने वाले वर्ण और जातिवादी लोगों ने तमिलभाषा के ग्रंथों में भी वर्णवादी तथा जातिवादी जहर घोला होगा, तो इसलिए तमिल भाषा का भी त्याग नहीं किया जा सकता। भाषा तो बातों को जानने तथा जनाने का माध्यम है। वह अपने आप में निर्दोष है। किसी भी भाषा में अच्छी बात कही जा सकती है और गाली भी दी जा सकती है। फसल में घास उगने से हम पूरी फसल में आग नहीं लगाते, किन्तु घास को निकाल देते हैं। हमें चाहिए

कि संसार की सभी भाषाओं के ग्रंथों में जहां कहीं भी जातिवादी तथा सत्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि की एकाधिकार ठेकेदारी सम्बन्धी सांप्रदायिक भावनाएं हों, उन्हें अपने मन से उतार दें। भारत के उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी या विश्व के किसी कोने में रहने वाले हिन्दू समाज के लोगों को चाहिए कि पेरियार या उन जैसे लोगों से घृणा एवं उपेक्षा न करें। किन्तु उन्हें सहृदयता से समझने की चेष्टा करें। हिन्दू कहे जाने वाले लोग विचारें कि पेरियार रामास्वामी ने ऐसा क्यों कहा!

पेरियार का व्यक्तित्व नकारात्मक नहीं था। वे जीवनपर्यंत निस्स्वार्थभाव से दलितों के उत्थान में लगे रहे। उन्होंने अन्यथा और कटु लगने वाली बातें भी मानवता के उत्थान के लिए ही कहीं। ऐसे महापुरुष बराबर होने चाहिए जो समाज में आयी हुई जड़ता को जोर से झकझोरकर मिथ्याभिमानियों के झूठे घमंड को झाड़ दें। धर्म, ईश्वर, देवता, अवतार, पैगम्बर, वर्ण, जाति, संप्रदाय आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी धांधलियां, चमत्कार, अधंविश्वास, दुर्बलों का हनन और समाज की बुद्धि का शोषण चल रहा है। ये केवल मीठी-मीठी बातों से नहीं दूर हो सकते हैं। इनके निवारण के लिए खरी करनी, रहनी तथा कथनी के महापुरुष चाहिए।

21. अंतिम दिन

संसार के महान-से-महान पुरुष का अंत आता है। पेरियार ने अपनी 95 वर्ष की उम्र में 24 दिसम्बर 1973 ई० को प्रात: काल सात बजकर बाईस मिनट पर शरीर छोड़ दिया। उनके शव के दर्शन एवं अंतिम संस्कार के उपलक्ष्य में आम जनता, राजनैतिक नेता तथा सरकारी पदाधिकारियों की विशाल भीड़ इकट्ठी हुई। तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के आदेश से राजकीय सम्मान से उनके शव की मद्रास में समाधि दी गयी। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, केन्द्रीयमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि ने अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित कीं।

22. उपसंहार

उपसंहार में स्वयं कुछ न लिखकर डॉक्टर ब्रजलाल वर्मा के ही दो अनुच्छेद पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूं—

'पेरियार ई० वी० रामास्वामी भी एक साधारण मनुष्य के रूप में ब्राह्मणों की भाषा में शूद्र परिवार में जनमें। तमिलनाडु की नायकर जाति उत्तर भारत में गड़रिया (पाल) जाति कहलाती है। भले ही शिष्टाचार में ब्राह्मण उत्तर भारत के पिछड़े वर्ग को खुलकर शूद्र न कहते हों किन्तु ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित शूद्रों की श्रेणी में ही कुर्मी, काछी, अहीर, गड़रिया, लोधी, जाट, भर, कुम्हार, कहार, कलवार, नाई, बारी, हलवाई, दर्जी, बढ़ई, लोहार आदि जातियों को ब्राह्मणों ने शूद्र ही माना है। ब्राह्मण अपनी संकीर्णता में सर्वोपरि थे। उन्होंने

अपनी जाति में भी शूद्र बना रखे थे। दूबे, चौबे, पाठक जैसे ब्राह्मण को उच्च ब्राह्मणों ने नीचा माना है। इस दृष्टि से ब्राह्मणों ने अपने वर्ग में भी वही संकीर्णता, दुर्व्यवहार तथा छुआछूत की श्रेणियां बना रखी थीं। आज के वैज्ञानिक युग में भारत में अवश्य ही कुछ नवयुवकों ने अपनी जाति की इस गंदी संकीर्णता तथा अभद्रता को निराकृत करने का बीड़ा उठाया है। ऐसे ब्राह्मण युवकों को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, उनके साथ अतीव सुखद व्यवहार करना चाहिए।

''इस देश में विश्वविख्यात साहित्यकार, कलाकार एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व आये और चले गये, किन्तु उनमें से एक प्रतिशत भी ऐसे लोग नहीं दिखे जिनके संवेदन ने देश की शोषित मानवता की मर्मांतक पीड़ा से अपने को जोड़ा हो।[1] दुर्भाग्य यह रहा कि इस देश की कला-साहित्य और संस्कृति विशाल नगरों के धनाधीशों के आसपास घूमती रही। कभी यहां के कवियों ने, कलाकारों अथवा साहित्यकारों ने उपेक्षा, घृणा एवं अवमानना के गर्त में गिरायी गयी उस जनता के जीवन पर दृष्टि भी नहीं डाली जिसे पिछड़ा एवं शूद्र कहा जाता है। कहना चाहिए कि वर्णव्यवस्था तथा जातिप्रथा से उद्‌भूत भेदभाव यहां के साहित्यकारों को कभी अरुचिकर नहीं लगा। उच्चवर्ग के लोगों ने साहित्य और कला को भी अपनी आरक्षित संपत्ति समझकर उसमें उन पिछड़ों-निर्बलों को भागी बनने का अवसर नहीं दिया। वे बेचारे सामाजिक विषमता का आज तक आखेट बने हुए हैं। कहने का आशय यह कि भारत के शास्त्र, पुराण, विचार, दर्शन, साहित्य, कला, धर्म और संस्कृति सभी पर ब्राह्मणों का एकाधिकार रहा तथा घृणा, निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञान, अपमान और शोषण की पीड़ा ब्राह्मणेतरों के हिस्से में पड़ी। कुछ भी हो, अन्याय ही अंततः पराभूत होता है। आज भारत का सामाजिक अन्याय अपनी दुर्गति के कगार पर खड़ा है। जाति व्यवस्था के ध्वजाधर अब अविभक्त मानवता के महत्त्व को धीरे-धीर समझने लगे हैं। सामाजिक समता से उनका मन तो जुड़ा है, किन्तु परम्परा-जर्जर उनकी बुद्धि अभी उसे पूर्णतः अंगीकार करने से कतरा रही है। हमारी आशा और अपेक्षा है कि महात्मा कबीर, नानक, रविदास, दादू, रज्जब, तुकाराम, ज्योतिराव फुले, नारायण गुरु, छत्रपति साहू, बाबा साहब डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर तथा पेरियार ई०वी० रामास्वामी का जातिप्रथा के अंत तथा सामाजिक समता के उदय का स्वप्न शीघ्र ही साकार हो, तथा भारत की सामाजिक समता अक्षुण्ण बने।''[2]

---

1. **वही, पृष्ठ 203 ।**
2. **वही, पृष्ठ 212 ।**

27

संत श्री विशाल साहेब

जो संत-शिरोमणि सद्गुरु कबीर के पथ के पथिक थे, त्यागी, तपस्वी और दिव्य रहनी संपन्न थे, जिनका मौन-बोध रहनी की पूरी व्याख्या कर देता था, जो निरंतर एकांतवासी और असंगता में रमने वाले थे, जिनकी उपस्थिति में शांति का साम्राज्य होता था, जो जीवन्मुक्ति के महान आदर्श थे, उन परम वैराग्यवान सद्गुरु विशालदेव का यहां संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का प्रयास किया जाता है।

1. जन्म और बाल्यकाल

संत श्री विशाल साहेब कबीरपंथ पारख सिद्धांत के महान संतों में एक हैं। आपका जन्म उत्तर प्रदेश, बाराबंकी जिला के जफ्फरपुर ग्राम में विक्रमी संवत् 1942 तदनुसार ईस्वी सन् 1885 में हुआ। आपके पिता का नाम सीताराम वर्मा था। आपके माता-पिता ने आपका नाम वैरीसाल रखा। आपके माता-पिता अपने परिवार सहित कुछ दिनों में जफ्फरपुर ग्राम छोड़कर बाराबंकी जिले के ही मझगवां शरीफ के पास सरैया ग्राम में बस गये। इस प्रकार वैरीसाल का जन्म जफ्फरपुर तथा पालन-पोषण सरैया ग्राम में हुआ।

''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' कहावत के अनुसार वैरीसाल बालक शुरू से ही तेजस्वी था। उस समय गांवों में प्राय: पाठशालाएं बहुत कम हुआ करती थीं। किसानों के बच्चे पढ़ाये भी बहुत कम जाते थे। बालक वैरीसाल भी एक साधारण किसान का बच्चा था, अत: वह भी अपने आठ-दस वर्ष की उम्र से भाई के साथ खेती-गृहस्थी के काम में लग गया। उसे पाठशाला में पढ़ने का अवसर नहीं मिला।

वैरीसाल संकल्पशक्ति के दृढ़ थे। वे छुटपन से ही खेती के काम में लगते तो देर तक काम करते रहते। साथी कहते कि काम कभी पूरा नहीं होता। चलें खायें-पीयें और विश्राम करें, पीछे फिर आकर करेंगे। वैरीसाल कहते कि जब तक किसी काम को देर तक नहीं किया जाता तब तक वह पूर्ण सफल नहीं होता।

2. कबीरपंथ के प्रति अश्रद्धा

बाराबंकी जिले में कबीरपंथ का प्रचार था और जहां-तहां कबीरपंथी कुटिया थीं। वैरीसाल अपनी कुमार अवस्था में श्रीराम-श्रीकृष्ण को भगवान

मानकर उनके प्रति श्रद्धालु थे और सामान्य सनातन धर्म कहे जाने वाली परंपरा में जन्मे होने से उसमें श्रद्धा थी। उन्होंने सुन रखा था कबीर साहेब तो एक महान सिद्ध संत हो गये हैं, परंतु कबीरपंथी लोग भगवान तथा वेद-शास्त्र का खंडन करते हैं, उनकी निंदा करते हैं। इसलिए वैरीसाल को कबीरपंथ में श्रद्धा नहीं थी।

संत श्री रघुवर साहेब नाम के एक कबीरपंथी पारखी संत उनके दरवाजे पर बने चौपाल में कई बार आकर ठहरते थे, परंतु वैरीसाल उनके पास नहीं बैठते थे। वे समझते थे कि जो भगवान तथा वेद-शास्त्र की निंदा करता है उसके पास क्या बैठना!

3. मत परिवर्तन

जब वैरीसाल की उम्र तेरह-चौदह वर्ष की थी, एक बार संत श्री रघुवर साहेब उनके चौपाल में विराजमान थे, परंतु वैरीसाल वहां से दूर थे। श्री रघुवर साहेब के पास बहुत लोग बैठे थे और वे ज्ञान की बातें उन्हें समझा रहे थे। एक व्यक्ति ने वैरीसाल से कहा ''हे भैया, जरा यहां आकर देखो-सुनो, ये संत क्या कह रहे हैं?'' वैरीसाल उदास मन से आकर बैठ गये और संत की बातें सुनने लगे।

संत कह रहे थे कि मनुष्य भोगों से संतुष्ट नहीं हो सकता। कुछ लोग भोगों से तो विरक्त हो जाते हैं, परंतु वे परोक्ष में अपने सुख का निधान खोजते हैं। मनुष्य समझता है कि परमात्मा कहीं बाहर है। जब वह मिल जायेगा तब हम सुखी हो जायेंगे। मनुष्य का यह भी भटकना है। उसे चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने कि मैं कौन हूं। जब वह इंद्रियबोध और मन की कल्पनाओं से ऊपर उठेगा तब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होगा। इंद्रिय और मन से प्रतीतमान सारा संसार छूट जाता है, परन्तु आत्मा अपने आपसे कभी अलग नहीं होता। अतएव परम ज्ञातव्य और प्राप्तव्य आत्मस्वरूप ही है। हमें चाहिए कि हम 'मैं' को पहचानें।

संत का उपर्युक्त प्रवचन सुनकर वैरीसाल का संसार बदल गया। उन्हें लगा कि ये घर-द्वार, गांव तथा समाज ही नहीं, नदी, पर्वत, भूमंडल, चांद, सूरज भी मानो दूसरी तरह के हो गये हैं। उनके मन का मोह भंग हो गया। उन्हें लगा कि मेरी कबीरपंथ के प्रति अश्रद्धा अनभिज्ञता का परिणाम था।

4. अक्षरज्ञान, स्वाध्याय और साधना

संत श्री रघुवर साहेब तो चले गये, परंतु वैरीसाल को लगा कि यदि इस दिशा में आगे बढ़ना है तो इस सिद्धान्त की पुस्तकें पढ़ना चाहिए और इसके लिए अक्षरज्ञान आवश्यक है। उन्होंने पुरोहित से देवनागरी वर्णमाला के वर्ण,

मात्रा तथा संधि का ज्ञान प्राप्त किया और हिन्दी के ग्रंथ पढ़ने लगे। समय-समय पर श्री रघुवर साहेब आते और उनके उपदेशों से वैरीसाल का ज्ञान बढ़ता गया। आगे चलकर श्री रघुवर साहेब ने वैरीसाल को हस्तलिखित कबीर परिचय तथा बीजक मूल दिये। इसके बाद वैराग्यशतक, निर्णयसार तथा पंचग्रंथी दिये। वैरीसाल ने इनका खूब अध्ययन किया। इसके बाद उनको अपने गुरुदेव से श्री पूरण साहेब रचित बीजक टीका त्रिज्या मिली। फिर तो उनको मानो ज्ञान का खजाना मिल गया।

अब वैरीसाल घर का काम-काज करना कम कर दिये और गांव से कुछ दूर गुफाबाग नामक बाग में जाकर देर-देर तक ठहरकर स्वाध्याय और साधना में लीन रहने लगे। वे खाने-पीने की चिंता नहीं रखते थे। घर वाले गुफाबाग में ही उन्हें भोजन दे आते थे। घर वाले समझ लिये कि अब लड़का घर में नहीं रहेगा, विरक्त हो जायेगा।

5. साधुवेष में प्रवर्जित

वैरीसाल के अध्ययन और साधना गुफाबाग में अखंडरूप से चलने लगे। बीच-बीच में गुरुवर श्री रघुवर साहेब आते और वैरीसाल को उपदेश दे जाते। वैरीसाल अपने गुरुदेव से कहते कि आप कृपया मुझे साधुवेष देकर प्रवर्जित कर दें। परंतु श्री रघुवर साहेब उन्हें केवल सत्योपदेश देकर चले जाते। इस तरह छह-सात वर्षों तक साधना देखकर श्री रघुवर साहेब ने वैरीसाल को साधुवेष दे प्रवर्जित किया और वैरीसाल नाम बदलकर 'विशाल दास' नाम रख दिया, जिन्हें हम श्री विशाल साहेब के नाम से जानते हैं।

श्री रघुवर साहेब ने अपने शिष्य विशाल दास को उस समय यह उपदेश दिया ''देखना, साधुवेष में कलंक नहीं लगाना। जैसे काछ काछे, वैसे नाच नाचे। कहीं नौताय-बैदाय में नहीं फंसना। किसी महंत के मठ, गद्दी, महंती एवं ऐश्वर्य को देखकर उनमें प्रलुब्ध नहीं होना। शुद्ध वैराग्य से जीवन बिताना। सिंह का बच्चा सिंह होता है। कभी गीदड़ नहीं बनना।''

सद्गुरु श्री विशाल साहेब गुरु के उपर्युक्त उपदेशों को बराबर याद रखते थे और कई बार अपने शिष्यों में उन्हें दोहराते रहते थे।

श्री विशाल साहेब ने 'गुफाबाग' और 'बंधिया बाग' में जो उनके पालन-पोषण स्थान के निकट ही पड़ते थे, रहकर खूब साधनाएं कीं और अध्ययन किया। उन्होंने बीजक, त्रिज्या, पंचग्रंथी, निर्णयसार, वैराग्यशतक, कबीर परिचय आदि ग्रंथों का अनेक बार गहन अध्ययन किया। इसके साथ गीता, रामचरितमानस, विश्रामसागर आदि का भी खूब अध्ययन किया। गीता के श्लाकों का हिन्दी दोहा-अनुवाद तो उनको अधिकतम याद ही था। बीजक टीका जिज्या का तो उन्होंने बारह वर्षों तक निरंतर अध्ययन किया। आगे

चलकर निर्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन, सत्यज्ञान बोध नाटक, तत्त्वयुक्त निजबोध विवेक, जड़-चेतन भेद प्रकाश का गहन अध्ययन किया। "जो तू चाहे मुझको, छांड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।[1] आशा तृष्णा न मिटी, मिटा न मन अनुराग। कलह कल्पना न गई, तब लग नहिं वैराग।[2] आतम में संतुष्ट जो, आतम सो रति होय। तृप्त जो आतम में रहे, ताहि न करनो कोय।"[3] इन दोहों को बारंबार दोहराते रहते थे। आपने बीजक-पंचग्रंथी तथा उनसे संबंधित ग्रंथों का तो पूर्ण अभ्यास किया ही, विनय पत्रिका के भी कई पदों को गाते तथा उनके भाव लोगों को सुनाते रहते थे। श्री विशाल साहेब सबके असंगत अंशों को छोड़कर सत्यसार का संग्रह करते रहते थे।

6. साधुवेष के बाद की साधना

श्री विशाल साहेब की जब बीस-इक्कीस वर्ष की उम्र हुई थी, तब उन्होंने अपने गुरु से साधुवेश पाया था। इसके एक वर्ष बाद गुरु श्री रघुवर साहेब का शरीर छूट गया। श्री विशाल साहेब का जहां बचपन बीता वह सरैया ग्राम है। इसी के आस-पास मझगवां शरीफ, वाजिदपुर तथा असोहना ग्राम हैं। इन चारों ग्रामों के बीच में, सभी ग्रामों से दूर बंधिया बाग है जो एकांत स्थल है। श्री विशाल साहेब ने गुफाबाग को छोड़कर उक्त बंधिया बाग में अपनी तपस्थली बनायी। आप किसी ग्रंथ को दर्जनों बार पढ़ते थे। बीजक टीका (त्रिज्या) तथा वैराग्यशतक जैसे ग्रंथ असंख्य बार पढ़ते रहते थे। वैराग्य शतक जैसे ग्रंथ का तो एक आसन से बैठे-बैठे कई बार पाठ कर जाते थे।

वे एक बार श्री पूरण साहेब के वैराग्य शतक का एक ही आसन पर बैठे कई बार पाठ करते रहे। कुछ दूर पर एक किसान अपने खेत में पानी लगा रहा था। उसने आकर श्री विशाल साहेब से कहा कि आप उन्हीं-उन्हीं दोहों को अनेक बार क्यों दोहराते हैं? श्री विशाल साहेब ने कहा कि तुम उसी-उसी पानी को दिन भर क्यों उलीचते हो? जैसे तुम्हें उसी पानी को बराबर उलीचने से लाभ दिखता है वैसे मुझे उन्हीं-उन्हीं वाणियों का बारंबार पाठ करने से लाभ दिखता है।

बंधियाबाग में गुड़ पकाने का एक कड़ाह उलटा पड़ा रहता था। जमीन में सीलन होने पर आप उस पर बैठकर साधनारत रहते थे। आप कभी-कभी दूर

---

1. **बीजक, साखी 298 ।**
2. **वैराग्य शतक, श्री पूरण साहेब।**
3. **गीता 3/17– "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
   आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥" का अनुवाद।

तक भ्रमण में निकल जाते, कभी-कभी संतों के भंडारे तथा सम्मेलनों में भी चले जाते। वहां आप सबसे मिलजुलकर एकांत में ही रहते। आपने अयोध्या, मथुरा, हरद्वार, ऋषिकेश, गोरखाली आदि में भ्रमण किया। अयोध्या तो अनेक बार घूम आते। भक्तों द्वारा पूजा रूप में दिए हुए कुछ पैसे रहते। उन्हीं से गुड़-चना खरीदकर खा लेते और अयोध्या का भ्रमण कर आते।

आप सदैव एकांतवास के प्रेमी थे। आप जब किसी संतमंडली में जाते तब वहां आगे बढ़कर दंडवत-बंदगी करते, किन्तु बैठने-उठने में पीछे और नीचे बैठने का प्रयास करते। समूह में सेवा का काम कर देते और फिर सबसे अलग तथा मौन रहकर निवास करते।

आप कई दिनों तक नदी तट, बाग, जंगल आदि में रहकर साधना में लीन रहते। वहां साथ में ले गये चने-गेहूं आदि जलपात्र में एक-दो मुट्ठी भिगाकर खा लेते। कई बार वन के कोमल पत्ते, नीम के पत्ते खा-खाकर तथा पानी पी-पीकर कई दिनों तक एकांत साधना में लगे रहते। विशालदेव कहते थे कि मैंने सोचा कि यदि साधना करना है तो खाने-पीने से लापरवाह होना पड़ेगा। जब वे गांव में आते तब भक्तों के यहां अपने हाथों से सादा भोजन बनाकर खा लेते।

आपके तेजोमय तथा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को देखकर मत-मतांतर के कई संत-महंतों ने आपको राय दी की संस्कृत तथा वैद्यक पढ़ लें तो आगे चलकर जीवन-निर्वाह में सरलता होगी, आपका सम्मान भी बढ़ेगा और प्रचार भी होगा। कई संत-महंत आपको अपने पास रखना चाहते थे। परंतु आपको न विद्वान बनने की इच्छा थी, न वैद्य, न महंत और न प्रचारक। आपको केवल अखंड वैराग्यपूर्वक रहकर साधना द्वारा पूर्ण शांति प्राप्ति की इच्छा थी। अतएव आप जीवनपर्यंत किसी प्रलोभन में नहीं पड़े।

विशालदेव के आरंभिक साधना-काल में बाराबंकी क्षेत्र में कई कबीरपंथी संत और महंत थे। उनमें श्री शीतल साहेब विशेष वैराग्यवान, साधना संपन्न एवं योग्य संतपुरुष थे। विशालदेव ने श्री शीतल साहेब का भी समय-समय से सत्संग किया था। कुछ दिनों में श्री शीतल साहेब बाराबंकी छोड़कर आगरा चले गये थे। वहीं आपने बहुत दिन रहकर लगभग सौ वर्ष की उम्र में शरीर छोड़ा था।

7. विशालदेव के उपदेश देने की विधा

आप कभी सभा में नहीं बोलते थे। कई लोगों को बैठाकर भी नहीं बोलते थे। आपको तो मुख्य प्रिय थी साधना, एतदर्थ एकांतवास। आप जिस गांव में रहते, सुबह बाहर वन, बाग, नदी तट आदि एकांत में चले जाते। दोपहर तक

वहां रहते। दोपहर में गांव में आकर भक्तों के यहां भोजन बनाकर खा लेते और पुनः बाहर एकांत चले जाते। वहां रात आठ-नौ बजे तक रहते। कभी तो रातभर बाहर ही रह जाते और कभी नौ बजे रात तक गांव में भक्तों के यहां आ जाते।

यदि आप रात में गांव में आते तो गांव का जो ज्यादा समझदार तथा श्रद्धालु प्रेमी होता उसको निर्णय सुनाते। ज्यादातर उसे सुबह बाहर ले जाकर ज्ञान की बातें सुनाते। जब वह व्यक्ति बोध में पक्का हो जाता तब वह गांव के अन्य लोगों को समझाता। इस प्रकार आप एक गांव में एक-दो को जड़-चेतन का निर्णय तथा स्वरूपज्ञान का पक्का बोध करा देते और वे दूसरों को समझाते। इस प्रकार आपने बाराबंकी क्षेत्र में पारख सिद्धान्त के बीज बोये।

जब आपकी प्रसिद्धि बढ़ी और शिष्य-मंडली चलने लगी, तब भी आपने समूह में भाषण कभी नहीं दिया। रात हो या दिन, जब कभी कोई योग्य जिज्ञासु होता तब उसके प्रश्न पर आप उसे समझाने लगते। आपकी ज्ञान-चर्चा की बात सुनकर संत-भक्त आपके निवास के आस-पास आड़ लेकर बैठ जाते और सुनते। आपकी आवाज गंभीर और ऊंची होती थी। उस समय भी आपके सामने केवल एक ही व्यक्ति होता था।

जब कभी बहुत लोग मिलकर आपसे कुछ सुनने आते तब आप मौन हो जाते। आपने समूह की इच्छा से चलने की आदत ही नहीं डाली। केवल एक व्यक्ति का प्रश्न और आपका उत्तर। जब आपको कहने की प्रसन्नता होती तब आपका निर्णय बहुत लंबा चलता। यहां तक कि महत्त्वपूर्ण विषय को आप कई दिनों तक चलाते। आपके निर्णय के विषय होते थे जड़-चेतन, स्वरूपज्ञान, पुनर्जन्म, कर्मवासना, कर्मफलभोग, संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, कर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मानवीय गुण, साधुदशा, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि। भूत-प्रेत तथा परोक्ष आभास के निरास में भी आप बोलते थे।

8. साधु-शिष्यों का निर्माण

आपने अपनी चालीस वर्ष की उम्र तक किसी को शिष्य नहीं बनाया। इसके बाद आपके पास विरक्त शिष्यों का जमघट होने लगा। आप विरक्त साधकों को आठ-दस वर्ष, किसी-किसी को पंद्रह वर्ष साधना में कसकर साधुवेष देते थे। किसी के मिलने पर पहले तो आप उससे बोलते नहीं थे। जब किसी की बड़ी जिज्ञासा देखते थे तब उससे बात करते थे। आपके प्रसिद्ध शिष्य संत श्री प्रेम साहेब जब अपनी चौदह वर्ष की उम्र में आपसे मिले, तब आपको मौन देखकर वे घबरा गये। परंतु पास के संत ने समझाया कि तुम घबराओ मत, तुम्हारी जिज्ञासा देखकर गुरुदेव तुमसे बात करेंगे। धीरे-धीरे

विशालदेव की शरण में पचासों विरक्त शिष्य तथा हजारों गृहस्थ-भक्त आकर अपना कल्याण किये।

9. मौन, सहन और निर्विवाद

विशालदेव की प्रसिद्धि काफी बढ़ गयी थी। नाना मत के संत एवं पंडित उनसे बहस करने आते थे। विशालदेव अपने शिष्यों से उनका जल-भोजन, मीठे वचन और आसन से सत्कार करवा देते थे। कोई उलटा-पलटा कहता था उसे सह लेते थे और मौन रहते थे। उन्होंने एक बड़े विवादी मंहत को समझाया था कि आप अपनी बातें अपने भक्तों को बतायें, हम अपनी बातें अपने भक्तों को बताते हैं। सामान्य सदाचार दोनों में बराबर ही है। कुछ विचारों की बातों में अन्तर है, तो वह अंतर सबमें कुछ-न-कुछ है। जब अनादिकाल के बड़े-बड़े ऋषि-मुनि सबके विचार एक नहीं कर सके तो हम-आप कैसे एक कर सकते हैं। समझने-समझाने का तरीका है जिज्ञासा, विनम्रता, श्रद्धा, निष्पक्ष बुद्धि; विवाद नहीं।

जब कोई मतवादी हठपूर्वक कहता कि आपके विचार सत्य हैं तो उन्हें मुझको समझाइए, तब विशालदेव कहते कि आपके ख्याल से आपके विचार तो सत्य हैं, तो फिर उन्हें आप अन्य सभी मतवादियों को क्यों नहीं समझा देते!

जब विशालदेव के पीछे कोई बहुत पड़ जाता तब वे उसके प्रश्न में प्रश्न करके उसे मौन होने की दशा में ला देते। काशी से एक संत एवं पंडित आये। उन्होंने बड़े समारोह के साथ गुरुदेव को हराने का प्रोग्राम बनाया था। परंतु गुरुदेव ने उनके प्रश्नों में प्रश्न करके उन्हें मौन कर दिया। जब वे गुरुदेव के पास से निकलकर बाहर संतों के पास आये तब उन्होंने सबके बीच में कहा—''विशाल बाबा का जैसा नाम सुना था, वे वैसा ही हैं। उन्हें कोई हरा नहीं सकता।''

10. हठसाधना, दिखावा और फैलावा से रहित

गुरुवर विशालदेव प्रथम साधना में एकांत जंगल, नदी तट आदि पर दो-चार दिन रह जाते थे, तब वे कोमल पत्ते, पानी या एक-दो मुट्ठी गेहूं या चने आदि पर गुजर कर लेते थे। परंतु निष्प्रयोजन लंबा उपवास या दिखावे के काम से दूर रहते थे। एकांत में उन्हें बैठा हुआ देखकर जब कोई पूछता तब वे कह देते कि अमुक गांव से खा-पीकर आया हूं और कुछ समय में पुन: वहीं चला जाऊंगा। समाज में जब किसी संत ने एक-एक सप्ताह उपवास रहने का अनुष्ठान किया तब उन्होंने ऐसा करने से रोका। वे कहते थे कि दिखावे से रहित मध्यवर्ती व्यवहार होना चाहिए।

आपकी प्रसिद्धि बढ़ने पर लोग आपसे मिलने आते। आप सबसे मिलजुलकर चल देते तो आपका पता भी नहीं चलता कि आप कहां गये।

इससे लोगों को कष्ट भी होता था, परंतु विशाल साहेब चाहते थे कि हमारे पास भीड़ न बढ़े। इसलिए आप सबसे हटकर एकांत सेवन करते रहे। आप दूसरों को चेताने तथा अपने समाज का विस्तार करने की चेष्टा नहीं रखते थे। आपका मंतव्य था—

1. हमारी बातें सत्य होने पर भी इन्हें सब नहीं स्वीकार कर सकते, फिर हठात किसी के पीछे पड़ने से क्या लाभ?

2. दूसरों को ज्यादा मनाने एवं बलात समझाने के चक्कर में अपने समय और शक्ति नष्ट होंगे, अतएव हमारे कल्याण में विलंब होगा।

3. बेतहाशा समाज बढ़ जाने पर उसमें ऐसे-ऐसे मनुष्य आ जायेंगे जो समाज को ही उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करने लगेंगे।

4. स्वरूपस्थिति की साधना में चलने पर मन निष्काम हो जाता है, फिर संसार से कुछ प्रयोजन ही नहीं प्रतीत होता।

5. स्वरूपस्थ पुरुष को बाह्य-प्रवृत्ति भारस्वरूप प्रतीत होती है, फिर इतने मानने वाले मिलते हैं कि सबसे भाग-भाग कर बचना पड़ता है।

6. हम सन्मार्ग पर चलते हैं, तो हमें देखकर जिसका मन होगा सन्मार्ग पर चलेगा।

7. मेरा सुधर जाना समाज का सुधार है, क्योंकि मैं समाज का एक अंग हूं।

11. समता व्यवहार

विशालदेव दूसरे के मत के खंडन-मंडन में नहीं पड़ते थे। वे मानते थे कि अपने विचारों का सही निर्णय दे देने पर दूसरे के मत के प्राय: खंडन की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके सारे उपदेश समतापूर्वक होते थे। वे जिस आश्रम पर जाते वहां की मर्यादा का पालन कर देते थे। एक बार वे एक वैष्णव मंदिर पर थे। पूजा का समय आया। आश्रम पर रहे हुए वैष्णव संत ने कहा—''यदि आपको 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ... ' पूरा छंद याद हो तो इसे गा दें और मैं भगवान की आरती कर लूं।'' विशालदेव को यह छंद याद था। वे मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो पूरा छंद गा दिये और वैष्णव संत ने आरती कर ली। वे कहते थे कि किसी आश्रम पर जाय तो वहां की मर्यादा का पालन करे, अन्यथा जाय ही नहीं।

प्रसिद्ध होने पर विशालदेव की शरण में अनेक मत के भक्त आये, परंतु उन्होंने उन भक्तों को यही उपदेश किया कि वे अपने पूर्व गुरुओं का भी आदर-सत्कार करते रहें।

12. गुरुदेव के लिए पचास आश्रम

विशालदेव की प्रसिद्धि बढ़ी और विरक्त शिष्यों की मंडली बनने लगी तथा गृहस्थ-भक्त गांव-गांव बढ़ने लगे। एकांतसेवी विशालदेव के लिए यह

सब परेशानी का कारण बनने लगा। अतएव गुरुदेव सबको छोड़-छोड़ कर एकांत निकल जाते थे। उक्त स्थिति को ध्यान में रखकर संत-भक्तों ने विचार किया कि यदि गुरुदेव से लाभ लेना है तो उनके एकांतवास के लिए हमें प्रबंध करना चाहिए। अतएव गांव के बाहर जगह-जगह कुटिया बनायी गयी। समाज के संत तथा आगंतुक संत-भक्तों का निवास गांव में होता था और गुरुदेव का निवास गांव के बाहर एकांत कुटी में होता था। वहां गुरुदेव के परली ओर दो-चार संत-ब्रह्मचारी सेवा-रक्षा करने वाले रहते थे।

पूर्ण प्रसिद्धि बढ़ जाने पर विशालदेव एक-एक आश्रम पर दो-दो, चार-चार तथा छह-छह महीने रह जाते थे। उनके दर्शन के लिए भारत के अनेक प्रदेशों तथा काठमांडू से भी भीड़ आती थी। वह भीड़ गांव में रहती थी, समय-समय पर विशालदेव के निवास पर जाकर दर्शन कर लेती थी और गांव में उसका भोजन, निवास आदि रहता था तथा गांव में ही दो समय संतों द्वारा प्रवचन के कार्यक्रम रहते थे। यह पहले बताया गया है कि विशालदेव समाज में भाषण नहीं करते थे। कितने दर्शनार्थी तो उनके साधारण शब्द भी नहीं सुनने को पाते थे। किन्तु श्री प्रेम साहेब तथा अन्य संतों से संत-भक्तों को भरपूर सत्संग लाभ मिलता था। इस प्रकार भारत तथा काठमांडू तक विशाल देव के लिए करीब पचास आश्रम बन गये।

13. निष्पृहता

कोई सन् 1945 ई० की बात है। काठमांडू की भक्त-मंडली परस्पर संग्रह कर काफी रुपये विशालदेव के चरणों में समर्पित करने के लिए बाराबंकी में लाये। विशालदेव ने उन्हें समझाया कि मेरा अपना आश्रम नहीं है। जहां रहता हूं सारा प्रबंध भक्तों द्वारा रहता है। मैं इतने रुपये स्वीकार कर क्या करूंगा! ये रुपये तो इन साधुओं के प्रमाद के ही कारण बनेंगे, क्योंकि इनका यहां कोई उपयोग नहीं। अतएव ये रुपये बुरहानपुर श्री कबीर निर्णय मंदिर ले जाकर अर्पित कर दो। वहां बहुत-से संत रहते हैं, बीजक-पंचग्रंथी की पढ़ाई होती है, पुस्तकें छपती हैं। वहां इन रुपयों का सदुपयोग हो जायेगा।

काठमांडू के भक्तों ने विशालदेव के समाज में भंडारे एवं वस्त्र-वितरण में कुछ रुपये खर्च किये और शेष रुपये बुरहानपुर के श्री कबीर निर्णय मंदिर में अर्पित कर दिये।

विशालदेव के सामने भक्तों द्वारा पूजा में जो रुपये चढ़ते थे, वे समाज के संतों एवं आगंतुक संत-भक्तों की सेवा में खर्च होते रहते थे।

विशालदेव ने स्वयं कोई आश्रम नहीं बनाया, किन्तु उनकी बुद्धि समता में थी। उन्होंने स्वरचित सत्यनिष्ठा ग्रंथ में कहा है—

लौकिक आश्रम हीन कोई, कोई आश्रम युक्त।
रहत पारखी संत इमि, रहस्य बोध गहि मुक्त॥
(सत्यनिष्ठा, पाठ 3, 13/4)

14. रचनाएं

विशालदेव अपनी पचास वर्ष की उम्र तक स्वाध्याय और साधना ही करते रहे। उसके बाद उनको देखा गया कि वे कुछ गुनगना रहे हैं। एक बार उनको गाते देखा और सुना गया—"हम कैसे अपना स्ववश करत नहिं काम।" पास के संतों ने निवेदन किया कि जो कुछ आपके हृदय से निर्मित हो उसे बोल देने की कृपा करें तो हम लोग उसे लिख लें। गुरुदेव ने स्वीकारा और वे अपनी रचित कविताएं बोलने लगे तथा संतों ने उन्हें लिखना आरम्भ किया। इसी क्रम में भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम नाम से चार ग्रंथों की रचना हुई। विशालदेव ने स्वाध्याय के लिए ग्रंथों का स्पर्श किया, परंतु रचना के लिए कलम, स्याही और कागज का स्पर्श नहीं किया। उन्होंने कबीर देव की इस साखी को चरितार्थ कर दिया—

"मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहों नहीं हाथ।
चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात॥"
(बीजक, साखी 187)

श्री विशाल साहेब के उपर्युक्त चारों ग्रंथों के विषय अत्यंत गंभीर, सरल तथा अध्यात्मसार हैं। वाणियों की गंभीरता देखकर कितने अनभिज्ञ लोग कल्पना कर लेते थे कि विशाल साहेब तो पढ़े-लिखे नहीं हैं, वे ऐसी गंभीर वाणियों की रचना कैसे कर सकते हैं। उनके नाम से कोई लिख देता होगा। परंतु वास्तविकता यह है कि उनकी सारी वाणियां उनके ही हृदय और कंठ से निकली हैं और उनमें एक अक्षर किसी दूसरे का शोधन भी नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं देखा है कि वे अपनी वाणियों को सुन-सुन कर उचित शोधन स्वयं करते थे। सुन-सुन कर उन्हें जहां शब्द परिवर्तन की आवश्यकता लगती थी वहां वे स्वयं बता देते थे कि यह शब्द काटकर यह शब्द लिख दो।

आपके चारों ग्रंथों की टीका श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब ने की है जिनके एक से अधिक संस्करण प्रकाशित हो गये हैं। इन्हीं चारों ग्रंथों पर मोक्षशास्त्र नाम से इन पंक्तियों के लेखक ने एक पुस्तक लिखी है जिसमें उनके जीवन-दर्शन तथा उपदेशों को सार संक्षेप में जाना जा सकता है।[1]

---

1. **इस ग्रंथ के लेखक ने अब भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम की टीका भी कर दी है, जो कबीर पारख संस्थान इलाहाबाद से प्रकाशित है।**

15. स्पष्ट समाधान

विशाल देव लखनऊ क्षेत्र की देहाती भाषा में बोलते थे। उनका वक्तब्य स्पष्ट होता था। वे किसी विषय पर जैसे बहुत विस्तार से बोलते थे, वैसे उस पर अति संक्षेप में बोलने में भी कुशल थे। जब वे किसी विषय पर बोलते थे, तब लगता था कि स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखने के समान वह सब साफ दिख रहा है। उनकी वाक्यशक्ति प्रबल, स्वच्छ और गंभीर थी। चाहे व्यावहारिक हो या पारमार्थिक, सभी विषयों पर उनका स्पष्ट समाधान रहता था।

16. व्यक्तित्व

विशाल देव का कद मध्यम था, रंग सांवला और शरीर स्वस्थ था। वे बहुत कम बोलते थे। किसी विषय में निर्णय करते समय लंबा भी बोलते थे। वे खिलखिलाकर कभी नहीं हंसते थे, उनको कभी-कभी मुस्कराते देखा जाता था। वे कभी कटु नहीं बोलते थे। वे परमत खंडन करने से बचते थे। वे अपनी बातें ही कहते थे। परमत पर भी विचार करना हो तो मधुर शैली तथा भाषा का प्रयोग करते थे। किसी के कुछ पूछने पर वे दस-पंद्रह सेकेंड मौन रहकर उत्तर देते थे।

वे सदैव एकांतवासी थे। वे जहां रहते थे, एकदम नीरवता रहती थी। उनके सामने कोई जोर से शब्द नहीं बोलता था। वे सबसे हटकर रहना चाहते थे। वे हित, मित और प्रियभाषी थे और सबसे निष्काम थे।

वे श्रद्धा से समझ को अधिक श्रेय देते थे। वे कहते थे कि केवल श्रद्धालु का ठिकाना नहीं है कि वह इस क्षण अपना सिर अर्पित करने लगे और दूसरे क्षण सिर काटने के लिए तैयार हो जाय। यदि श्रद्धायुत समझदारी हो तो सोने में सुगंध है, परंतु श्रद्धा न रहने पर भी समझदार व्यक्ति खोटे रूप में कभी उपस्थित नहीं होगा।

17. सहनशीलता

जीवन में काफी सदाचार और त्याग होने पर भी अहंकार और ईर्ष्या से पिंड छुड़ा पाना सरल नहीं रहता। इसीलिए पूर्ण संतों की भी निन्दा करने वाले अच्छे-अच्छे लोग होते हैं। अतएव संसार का कोई महापुरुष ऐसा नहीं होगा जिसकी निन्दा करने वाला कोई न हो। विशालदेव की भी निन्दा करने वाले थे और उनमें सदाचारी तथा त्यागी लोग भी थे। विशालदेव को निंदित करने के लिए गंदी पुस्तकें लिखी गयीं। उनको अपशब्द कहा गया।

इन पंक्तियों के लेखक ने विशालदेव के अत्यंत निकट रहकर देखा कि उन्होंने अपने विरोधियों एवं निंदकों को भी कभी आधी जबान में भी कटु शब्द

नहीं कहा। बल्कि ऐसी चर्चा चलने पर उन्होंने अपने विरोधियों के लिए आदरयुक्त शब्दों का प्रयोग किया। देखा गया कि वे अपमान-सम्मान तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता में निर्विकार एवं समान रहे।

एक बार बाराबंकी जिले में एक गांव के बाहर उनके लिए बनाये गये आश्रम में वे निवास कर रहे थे। रात में कुछ चोर आये। पास की झोपड़ी में रहने वाले साधुओं को डरा-धमकाकर कहने लगे कि जो कुछ है दे दो। संतों ने कहा कि हम लोगों के पास पहनने-ओढ़ने के कपड़े के अलावा कुछ नहीं है। जब चोरों को विश्वास हो गया कि इन साधुओं के पास वस्तुतः कुछ नहीं है तब वे श्री विशाल साहेब के कक्ष में जाकर खड़े हो गये और उन्होंने कहा कि जो कुछ है दे दीजिए।

श्री विशाल साहेब आश्रम में चोरों का आना पहले से जान गये थे; अतएव उन्होंने खाट पर बिछाई कथरी (साधारण बिस्तर) में अपने शरीर के कपड़े रखकर तथा उसे बटोरकर खाट पर सामने रख लिए थे और केवल एक लंगोटी पहने नंगे शरीर नंगी खाट पर बैठे थे। जब चोरों ने उनके सामने आकर कहा कि जो हो, दे दीजिए, तब श्री विशाल साहेब ने सामने रखी गठरी जैसी सामग्री को जमीन पर फेंक दिया और मौन रहे। चोरों ने उसमें देखा तो उनके योग्य उसमें कोई वस्तु नहीं थी। चोरों ने कक्ष में प्रवेश कर इधर-उधर देखा तो खूटियों पर दो झाबे टंगे थे। उन्होंने उसको उतारा। उन्हें वे कुछ वजनदार लगे और आभास हुआ कि इनमें मालटाल होगा। परन्तु जब उन्होंने उन्हें बाहर ले जाकर देखा, तो उनमें फल, सत्तू, आयुर्वेदिक औषध आदि नित्य के उपयोग की वस्तुएं थीं। चोरों ने उन्हें वहीं छोड़ दिया और चले गये। इस पूरी प्रक्रिया में श्री विशाल साहेब पूर्ण मौन थे।

18. उपसंहार

विशालदेव ने 9 फरवरी सन 1977 ई० को अपना भौतिक कलेवर बाराबंकी के मूंजापुर ग्राम में छोड़ा। उन्होंने शरीर धरने और छोड़ने की चरितार्थता की। वे जीवन्मुक्त थे, हजारों के अनुशास्ता थे और अमर संदेश-गायक थे। वे अपना दिव्य आदर्श तथा अमर वाणी समाज के लिए छोड़ गये जो कल्याणार्थियों के लिए अमरनिधि है।

उनके चारों ग्रंथों की वाणियों में मानव-समाज के सभी वर्ग के लिए पुष्कल उपदेश भरे है। यहां केवल जीवन्मुक्ति रहनी की व्यंजनाओं से पूर्ण आठ सखियां प्रस्तुत हैं—

जानि जनाय देखे सुने, सब मित्रन दिल हाल।
हानि लाभ इसमें कहा, जो तेहि हेतु बेहाल ॥ 131 ॥

प्रकाश रूप स्पर्श रस, शब्द गंध बेकाम।
हर्ष शोक जाने खटक, बिनु जाने निज धाम॥ 132॥
हेतु न मिलने में कोई, जहं तक जगका साथ।
प्राणी मात्रन के मिलत, राग द्वेष दुख हाथ॥ 133॥
तन मन इन्द्रिन प्रेम से, चाह होत बहिरंग।
सो तब कल्पित जीव के, बिना हेतु ही तंग॥ 134॥
पारख अटल समाधि है, देह भिन्न सब काल।
देह रहे या ना रहे, यकसम जानि निहाल॥ 135॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूं नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहां रहे सब फीक॥ 136॥
अब तो सनमुख कुछ नहीं, जब से मानब छूट।
गुरू कृपा निज बोध बल, ठहरि आप मन टूट॥ 137॥
जेहि हित सब कुछ करि थके, सो सब पाया आज।
अब तौ बाकी कुछु नहीं, पारख स्वतः बिराज॥ 138॥

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक)

"हम अपने सभी मित्रों से मिलें, उन्हें देखें और दिखावें तथा उनके दिल की बातें जानें और अपने दिल की बातें उन्हें बतावें; स्वरूपस्थिति की साधना में चलने वाले विवेकवान के लिए उक्त बातों में क्या रखा है। वैसा करने से क्या लाभ है और न करने से क्या हानि है! अतएव क्यों इन बातों के लिए परेशान हो!

"सूर्य, चंद्रमा, तारे, बिजली, बत्ती आदि के सारे प्रकाश तथा इनमें दिखते हुए नर-नारियों, मकानों, गांवों, शहरों, नदियों, पर्वतों आदि के रूप, स्पर्श, रस, शब्द एवं गंध—सब निरर्थक हैं। इन्हें देख, सुन तथा जान-जान कर हर्ष-शोक की खटक होती है। इन्हें न जाने, न माने तो अपने स्वरूपस्थिति-धाम में अचल विश्राम है।

"जहां तक संसार में मनुष्यों का संयोग होता है, उनसे मिलने में शांति-इच्छुक का कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि मनुष्य मात्र के मिलने में राग या द्वेष बनकर हाथ में दुख ही लगता है।

"अपने माने गये शरीर, इंद्रियों तथा मनोविलास में राग करने से बाहरी संसार की चीजों के लिए इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। यह सब मनुष्य की व्यर्थ कल्पनाओं से ही होता है। ऐसे उपद्रव में पड़कर व्यक्ति निष्प्रयोजन ही दुखी होता है।

''यहां तो सबको परखने और जानने वाले उस शुद्ध निज स्वरूप चेतन की समाधि में सब समय स्थिति है जो देह से सर्वथा पृथक है। अब देह कुछ दिन बनी रहे या अभी नष्ट हो जाय दोनों को एक समान समझकर हम कृतार्थ हैं।

''हे कल्याणार्थी! यही रहनी ग्रहण करो। इसके अलावा कहीं कुछ भी अच्छा नहीं है। तुम बाहर चाहे जितना अच्छा मानो, उसका एक दिन छूटना पक्का है। अतएव सबसे उत्तम स्वरूपस्थिति ही है। इसमें रहने वाले के लिए सारा संसार नीरस हो जाता है।

''जब से अपने चेतन स्वरूप को विवेक द्वारा जड़-प्रकृति में से पूर्णरूपेण निकाल लिया और जड़-शरीर तथा शरीर संबंधी दृश्यों की अहंता-ममता छोड़ दी, तब से सामने कोई बंधन नहीं रहा। सद्गुरु की कृपा और अपने स्वरूपबोध के बल से अपने आप में स्थित हो गया और मन का जाल टूट गया।

''जिस परम सुख के लिए अनादिकाल से सब कुछ करके थक गये थे और वह नहीं मिला था, वह आज मिल गया। अब कुछ करना एवं पाना शेष नहीं रहा। बस, शेष साक्षी चेतन की स्थिति मात्र है।''